प्रकाशक :
इन्द्रसैन जैन
मालिक कुमार आदर्श तथा डरगडोल कार्पोरेशन
चांदनी चौक दिल्ली ।

मुद्रक :
पाईनियर फाईन आर्ट प्रेस
दिल्ली ।

प्राक्कथन

आज के युग मे विज्ञान की उन्नति के असाधारण चमत्कार देखने को मिल रहे हैं। अणु-बम व उद्जन बम के भय से सम्पूर्ण मानवता त्रस्त है। जहा एक ओर वैज्ञानिक उन्नति ,हमारे सुख-समृद्धि का साधक है, वहा दूसरी ओर यही साधन हमे ऐसे मार्ग पर ले जाते हैं, जिन्हे अशान्ति अन्याय और अत्याचार के राजपथ का नाम दिया जा सकता है। अत सवाल है—इस स्थिति से मुक्ति पाने का। आज मानव ने धर्म की ओर से मुह मोड लिया है। वह अपनी पुरानी परम्परागत सस्कति को छोडकर कुछ परकीय तथा गलत मार्ग पर चल रहा है अपनी बुद्धि को असाधारण समझने लगा है।

पर.........। मनुष्य को शान्ति तब तक नही मिलेगी, जब तक कि वह सही रास्ते—परम्परागत जीवन परिपाटी पर नही आ जाता।

इसी उद्देश्य को लेकर यह अध्यात्म और सास्कृति के प्रवचनो का सग्रह प्रकाशित किया गया है। पजाब केसरी जैनभूषण, प्रान्त मन्त्री प० रत्न मुनि श्री प्रेमचन्द जी के अमूल्य प्रवचन इसमे सगृहीत हैं। मुनि श्री के प्रवचन जहा अध्यात्म के गम्भीर से गम्भीर विषय पर विशद प्रकाश डालते हैं, वहा उन विषयो मे सर्वसाधारण की समझ मे आने के लिए उपयुक्त सारल्य और विषय प्रतिपादन की शक्ति भी रहती है। कथा, सवाद, चुटकले उदाहरण आदि से वे गम्भीर विषयो को भी दिलचस्प बना देते हैं। मुनिश्री का प्रवचन एक सिह की गर्जना के समान होता है।

इसी से बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी जन उनके उपदेशो से पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। उनके उपदेशो मे किसी साम्प्रदायिक भेद को स्थान नही है और वे सत्य के पुजारी है। आप सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, गुरमुखी, उर्दू आदि अनेक भाषाओ के विद्वान् है।

आप प्राय देश के अनेक भागो का भ्रमण करके धार्मिक जनता को अपनी पवित्र वाणी का रसपान कराते रहते हैं। आपमे किसी प्रकार की स्वार्थी प्रवृत्ति का लेश नही, अत आप अत्यन्त सुस्पष्ट वक्ता है। आप अपने प्रवचनो मे स्वार्थियो और ढोगियो को बहुत बुरी तरह आडे हाथो लेते है।

प्रस्तुत पुस्तक जन-जन के लिए एक अत्यन्त उपयोगी उपदेशामृत के रूप मे सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है। इससे पूर्व इसी पुस्तक के ग्यारह भाग प्रकाशित हो चुके है जिनसे मनुष्योने बहुत लाभ उठाया है। यह बारहवा भाग भी उसी तरह उन्हे लाभ पहुचायेगा ऐसी हमे आशा है।

अन्त मे हम दानवीर सेठ इन्द्रमैन जी का बहुत धन्यवाद करते है जिन्होंने अपने व्यय से प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित कराकर धार्मिक जनता को अमूल्य उपदेशामृत का पान कराया।

— सम्पादक

अध्याय	विषय	पृष्ठ

: १ :

आत्म-ज्ञान की महिमा

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा सश्रिता,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिद प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिन. प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

भद्र पुरुषो तथा देवियो !

कुछ दिनों से मैं आत्मा के सम्बन्ध में कहता आ रहा हूं। आत्मा के सम्बन्ध में इतना वक्तव्य है कि लम्बे समय तक प्रवचन करने पर भी नहीं कहा जा सकता कि सब कुछ कहा जा चुका है। यह विषय अत्यन्त विस्तृत है। वास्तव में इसकी कहीं कोई सीमा नहीं, कहीं छोर नहीं और कहीं अन्त नहीं मालूम होता।

सीमा हो भी कैसे ? जगत् में जितना भी साहित्य है, सब आत्मा के सम्बन्ध में अथवा आत्मा के लिए ही है। धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, व्याकरण, साहित्य, छंद, अलंकार, काव्य कोष, ज्योतिष, गणित आदि विषय के जो भी ग्रंथ हैं, सब आत्मा के पीछे हैं। आत्मा है तो इन सब का अस्तित्व है, और यदि आत्मा न होता तो यह सब

कहाँ से आते ? कौन इनका निर्माण करता और किसके लिए करता ? आत्मा से भिन्न जो जड़ तत्व है, वह अज्ञानमय है। उसमें जानने-बूझने का सामर्थ्य नही है। अतएव जो ज्ञापक है और ज्ञाता है वह आत्मा ही है और जो ज्ञातव्य—जानने योग्य है, वह आत्मा के लिए है।

यह कहना तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं कि आत्मा ही इस विराट् सृष्टि का अद्वितीय सम्राट् है। आत्मा न होता तो सृष्टि की क्या स्थिति होती ? जड, शून्य, निस्पन्द पदार्थों का ढेर मात्र होता। इसमे जो उथल पुथल और चहल-पहल दृष्टिगोचर होती है, वह न होती। यह सब आत्मा की ही बदौलत है।

संसार के वागमय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आत्मा ही है। ज्ञानियों ने आत्मा को प्रधानता देते हुए बतलाया है कि आत्मा का विषय अतिशय गभीर, मौलिक, उपयोगी और चर्चनीय है; क्योकि अन्य विषय इसी पर निर्भर करते हैं।

तथ्य तो यह है कि जिसने आत्मा को पूरी तरह समझ लिया, उसे सब पदार्थ समझ में आ जाते हैं। इस कथन के प्रमाणस्वरूप आगम वाक्य का उद्धरण एक दिन मैंने दिया था। वह वाक्य था—

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ,
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।

अर्थात् जो एक पदार्थ को जानता है वह सब पदार्थों को जानता है, और जो सब पदार्थों को जानता है वह एक पदार्थ को जानता है।

वाचकवर उमास्वाति ने इसी भाव को संस्कृत पद्य में इस प्रकार प्रकट किया है—

एको भावः सर्वथा येन दृष्ट.,
सर्वे भावा· सर्वथा तेन दृष्टाः।

सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा—
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥

दार्शनिक एव सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इन वाक्यों का अर्थ दूसरी तरह से भी घटित किया जा सकता है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जो अर्थ होता है, यहाँ उसी पर प्रकाश डालना वांछनीय है।

यह सूत्र बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसे पूरी तरह समझने के लिए योग्यता और विचारशीलता की आवश्यकता है। इस सूत्र में कहा गया है कि जो तत्त्व-जिज्ञासु एवं मुमुक्षु पुरुष एक आत्मा को जान लेता है, वह सब को जान लेता है। क्योंकि शेष पदार्थ आत्मा से संबंधित हैं। आत्मा के साथ सब का शृंखला जुड़ी हुई है। आत्मा सब का केन्द्र है।

जो सब को जानता है वह एक को तो जानता ही है, परन्तु जिसमें एक को जानने की शक्ति है, वही आगे के अंकों को जानता है। एक से दो का नम्बर ऊंचा है, परन्तु मूल्य एक का अधिक है, क्योंकि समस्त सख्याओं का मूलाधार एक ही है। जो एक को छोड़ कर सब को जानता है, वस्तुत. वह कुछ भी नही जानता। एक ने ही आगे की सख्या को जन्म दिया है। गणना का प्रारम्भ ही एक से होता है। एक से निरपेक्ष कोई सख्या नही है।

तो जैसे सख्या का मूल 'एक' है, उसी प्रकार सब तत्त्वों का मूल आत्मा है।

शास्त्रकार ने 'एग' शब्द सामान्य रूप मे कह दिया है परन्त 'एगं' संख्यावाचक विशेषण है। वह किसका विशेषण है, यह शास्त्रकार ने नहीं बतलाया। अर्थात् जिस 'एक' को जानने पर सब का ज्ञान हो जाता है, वह कौन है ? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण उक्त सूत्र में नही है।

सूत्र में प्रत्येक विषय का स्पष्टीकरण नही हो सकता। सूत्र की व्याख्या ही यह की गई है—'सूचनात् सूत्रम्' अर्थात् जिस शब्दावली से अर्थ की सूचना-मात्र मिलती हो, उसे सूत्र कहते हैं। सूत्र में अक्षरों की अल्पता और अर्थ की विशालता होती है। वहां गागर में सागर भरा जाता है। थोडे-से शब्दों मे अधिक अर्थ का प्रतिपादन होता है। प्रस्तुत सूत्र आदर्श सूत्र का नमूना है। यहां थोडे शब्दों मे बहुत विशाल भाव प्रकट किया गया है।

परन्तु इस प्रकार के संक्षेप से कई बार लोग झंझट में पड़ जाते हैं, कई शकाशील हो जाते हैं और कई विपरीत प्ररूपणा भी करने लगते हैं। यह सूत्र का दोष नही, समझने वालो का दोष है। अगर समझने वाले की बुद्धि मध्यस्थ और निष्पक्ष है और उसके मन में किसी प्रकार का कदाग्रह नही है और पूर्वापर सम्बन्ध तथा औचित्य को ध्यान मे रख कर वह अर्थ करता है और दूसरी आवश्यक पात्रता उसमें विद्यमान है तो उसे न भ्रम हो सकता है और न विपर्यास ही। वह ठीक-ठीक अर्थ समझ ही लेगा। मगर जब बुद्धि में तटस्थता नहीं होती तो अपने-अपने विचार और सस्कार के अनुसार लोग अर्थ करते हैं।

कई लोग इस सूत्र का अर्थ ऐसा करते हैं कि जो एक परमात्मा को जानता है वह सब को जानता है। यह अर्थ किसी अपेक्षा से ठीक हो तो भी इसमे अनुक्रमहीनता का दोष आता है। ऐसा अर्थ करने वाले 'टर्न बाइ टर्न' सिस्टम को नही जानते।

केवल-ज्ञान होने पर शेष चारो ज्ञान उसी के अन्तर्गत हो जाते हैं; जैसे हाथी के पैर मे सब के पैर समा जाते हैं—

सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना.।

श्री भगवतीसूत्र में प्रश्न किया गया है—जीव ज्ञानी है या अज्ञानी ? इसके उत्तर में कहा गया है कि जीव दोनों प्रकार के हैं। सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी हैं और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं। जिनकी श्रद्धा समीचीन है, धारणा सीधी है और रुचि प्रशस्त है, वे सम्यग्दृष्टि हैं। कहा है—

'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।"

जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप है, उसे उसी रूप में मानना सम्यग्दर्शन है। न विपरीत मानना, न अधिक मानना और न न्यून मानना। किसी भी तत्व के स्वरूप को बिगाड़ कर न्यूनाधिक या विपरीत प्ररूपणा करना मिथ्यात्व का लक्षण है। ऐसा करना उचित नहीं। किसी पदार्थ को अपनी ओर से कोई रग न दिया जाय, बल्कि जैसा वह है वैसा ही मानना प्रामाणिकता है और यही सत्पुरुष के लिए योग्य है। उदाहरणार्थ—रुपये को लीजिए। एक रुपया में चौंसठ पैसे, सोलह आने, आठ दुअन्नियां, चार चवन्नियां, और दो अठन्नियां होती हैं। सरकार द्वारा यह निश्चित किया गया है। यह व्यावहारिक सत्य है। सम्यग्दृष्टि जीव इस व्यावहारिक सत्य को इसी रूप में स्वीकार करता है।

मलेरकोटला (पंजाब) में बारह आने का रुपया माना जाता है, यह भी व्यवहार सत्य है। साधु को लोक-व्यवहार के अनुसार ही बोलना कल्पता है।

किसी निस्सन्तान ने अपने भतीजे, भानजे या दौहित्र को दत्तक के रूप में ग्रहण कर लिया—गोद या मुतबन्ना ले लिया और उसने इस आशय की घोषणा कर दी तो साधु भी वैसा ही बोले, क्योंकि वह व्यवहार सत्य है।

आज सरकारी नीति सोलह आने के रुपये की है। अतएव पौने सोलह आने का या सवा सोलह आने का रुपया कहना मिथ्या है।

एक रुपये के सवा सोलह आने वसूल करने वाले को सरकार अपराधी मानती है । इस प्रकार ससार पक्ष मे भी कानून भंग करने से दण्ड का भागी होना पड़ता है। प्रकृति के नियम के विरुद्ध वस्तुओं का विवेचन करना भी मिथ्या है, अपराध है। रुपये के ठीकरा कहना विपरीत प्ररूपणा है । तात्पर्य यह है कि व्यावहारिक क्षेत्र में और आध्यात्मिक क्षेत्र में जो सत्य का अनुसरण करता है और यथार्थ श्रद्धा तथा प्ररूपणा करके जो अपने को धोखे में नही डालता और दूसरो को भी भ्रम उत्पन्न नही करता,वही सम्यग्दृष्टि जीव होता है। सम्यग्दृष्टि जीव मे कषाय की तीव्रतम अवस्था नही रह जाती है और इस कारण वह पदार्थो को उनके असली रूप मे ही देखता है। अन्तःकरण में विशिष्ट कलुषता न होने से उसे वस्तु का यथार्थ स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। इसी कारण सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है।

मिथ्यादृष्टि जीव मे ऐसी विशेपता नहीं होती उसके चित्त में कषाय और मिथ्यात्व का जो कालुष्य होता है, उससे उसके ज्ञान की ज्योति मलीन हो जाती है। वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देख और समझ नही पाता । हरे रग का चश्मा लगाने पर जैसे सब वस्तुए हरी-हरी ही नजर आती हैं, उसी प्रकार दृष्टि मे ही जब मिथ्यात्व होता है तो सभी पदार्थ मिथ्या दृष्टिगोचर होने लगते हैं। यही कारण है कि मिथ्यादृष्टि मे एक प्रकार की विवेकशून्यता होती है। वह वस्तु को न्यूनाधिक या विपरीत ही समझता और बतलाता है। उसकी दृष्टि में धर्म अधर्म है, और अधर्म धर्म है, देव कुदेव है और कुदेव देव है । वह सद्गुरु को कुगुरु और कुगुरु को सद्गुरु मानता है। हिंसा में धर्म समझता है । सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्र को, जो मोक्ष के मार्ग हैं, ससार का मार्ग कहता है, और संसार के मार्ग को

मोक्ष का मार्ग बतलाता है। कहा है—

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्व तद्विपर्ययात् ॥

यह मिथ्यात्व भयंकर व्याधि है, महान् अधकार है, घोर शत्रु है, उग्रतर विष है। व्याधि की चिकित्सा न हो तो वह एक ही जन्म को नष्ट करती है। अधकार सरल साधन से दूर किया जा सकता है। शत्रु अधिक बिगाड नही कर सकता, वह भौतिक पदार्थों को ही सीमित क्षति पहुचा सकता है। विष का परिणमन भी अधिक से अधिक वर्त्तमान जीवन का ही अन्त कर सकता है। किन्तु यदि मिथ्यात्व को दूर न किया जाय तो वह जन्म-जन्मान्तर में दुखदायी होता है। मिथ्यात्व से वासित अन्तःकरण वाला जीव सत्य-असत्य के विवेक से विकल होकर विपरीत ही सोचता है, विपरीत ही समझता है और विपरीत ही कथन करता है। जिसमें देव के गुण नही हैं उसे देव समझता है, जिसमें गुरु के गुण नही उसे गुरु मानता है, और अधर्म को धर्म समझता है। इस प्रकार वह स्वय अज्ञान के निबिड अंधकार में मारा-मारा फिरता है और अपने सम्पर्क में रहने वालों को भी अंधकार की ओर ही ले जाता है।

मिथ्यात्व के अगणित रूप हैं। उनकी संख्या बतलाना कठिन है। यह ऐसा शत्रु है जो किसी को किसी रूप में और किसी को किसी रूप में ठगता है और तारीफ यह कि ठगा जाने वाला यह भी नहीं समझता कि मैं ठगा जा रहा हू।

मिथ्यादृष्टि जीव मुक्त को अमुक्त और अमुक्त को मुक्त मानता है। मुक्त जीव को भी अमुक्त मानना, उसे बडी तोहमत लगाना है। यह अभ्याख्यान नामक बड़ा दोष है। किसी को कलक लगाने वाले महामोहनीय कर्म का बध करते हैं।

जैन सिद्धान्त के अनुसार मुक्त जीव वही कहलाता है जिसने

समस्त कर्मों का क्षय कर दिया है। समस्त कर्मों का आत्यन्तिक विनाश हो जाना मोक्ष है। कहा है—

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।

अर्थात्—समस्त कर्मो का क्षय मोक्ष' कहलाता है। जब तक समस्त कर्मो का क्षय नही हुआ है, तब तक मोक्ष प्राप्त नही होता। चार अघातिक कर्म शेष रहने पर भी पूर्ण मुक्ति नही है। इस विषय में कोई साम्प्रदायिक मतभेद नही है। स्थानकवासी, देहरावासी, तेरापथी और दिगम्बर सभी इस मान्यता को स्वीकार करते हैं।

यह मान्यता तथ्यपूर्ण भी है। मान लीजिए, एक मनुष्य अपराध करके कारावास के दंड का भागी हुआ। उसे पांच वर्ष के कारावास की सजा मिली। उसमे से वह चार या साढे चार वर्ष की सजा काट चुका है। अब थोड़ी सी सजा शेष है। तो क्या उसे अपराधी नही कहते हैं? भले ही उसे थोड़ी सजा भोगनी है, फिर भी वह अपराधी ही कहलाता है। इसी प्रकार जिसने बहुत कर्म क्षय कर दिये हैं और थोडे से कर्म शेष रह गये हैं वह भी सकर्मा जीव है और उसे मुक्त नही कह सकते।

चार घातिया कर्म क्षय होने पर अरिहन्त-अवस्था प्राप्त हो जाती है। केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्राप्त हो जाते हैं। उस समय भी चार अघातिक कर्म शेष रहते हैं और उनका कार्य भी चालू रहता है। ऐसी स्थिति में अरिहन्त भगवान् भी पूर्ण मुक्त नही है। जब तक एक पाई का भी कर्ज है तब तक मनुष्य कर्जदार ही गिना जाता है। थोड़े-से की उपेक्षा करना ठीक नही है, अग्नि का एक छोटा-सा कण भी बड़े से बड़े नगर को भस्म कर सकता है। जहर की छोटी-सी कणिका भी जीवन को निश्शेष कर सकती है। अतएव मनुष्य को सावधान रहना चाहिये। थोड़ा-सा कषाय भी कभी आत्मा के अधःपतन का कारण बन जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुंचा हुआ योगी, जिसके संज्वलन कषाय का भी उदय नही रहा है, जो उपशान्त कषाय हो गया है और जो यथाख्यात चरित्र की लक्ष्मी से सम्पन्न है, वह भी सूक्ष्म कषायोदय होते ही गिरता है और कभी कभी गिरता ही चला जाता है । तो आशय यह है कि जब समस्त कर्मो का पूरी तरह क्षय हो जाता है,तभी पूर्ण मुक्ति प्राप्त होती है ।

कर्मरहित आत्मा को 'सिद्ध' कहते हैं ।सिद्ध भगवान शिव, अचल अरुज् , अक्षय, अव्यय, अव्याबाध और पुनरागमन रहित पद को प्राप्त हैं वे उस पद को प्राप्त करके फिर संसार में नही आते । यह बात सभी जैन निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं फिर भी कुछ जैन भाई उन्हे मंत्र द्वारा बुलाने की चेष्टा करते हैं । जो भगवान् भव कारावास से सदा के लिये छुटकारा पा चुके हैं, उन्हें फिर बुलाना चाहते हैं !

कोई पुत्र अपराध करके कारावास कर रहा हो और पितृभक्ति से प्रेरित होकर माला जपे कि मेरे पिता जी भी यहां आ जावे, तो उस पुत्र को क्या कहा जायगा ? पिता को ऐसी पितृभक्ति की आवश्यकता नही है । ऐसा पुत्र विवेकशील पुत्र नही कहलाता ।

इसी प्रकार जो भक्त मुक्त भगवान् को पुन: बुलाना चाहते हैं, वे विवेकशील भक्त नहीं हो सकते । अनेक कविताकार भी ऐसे आशय की कविताएं लिखा करते हैं, जिनमें पुकार होती है–

आओ आओ हे त्रिशला नन्दन !

जो अनेक प्रकार के कष्ट सहन करके मुक्ति के पात्र बने हैं, उन्हें वापिस मुक्ति से बुलाना उचित नही है; और जब यह जानते हुए भी कि मुक्तात्मा हजार-हजार बार बुलाने पर भी नही आ सकते, बुलाने का प्रयत्न करना तो और भी शोचनीय है । आश्चर्य तो यह है कि छोटे पुत्र ही नही बुलाते वरन् बडे पुत्र भी भगवान् को बुलाते हैं । बड़े पुत्र गुरु जी और छोटे पुत्र चेले हैं ।

केवली भगवान् के उपदेश में परस्पर विरोधी विधान कदापि नही हो सकते। अल्पज्ञ जीव के कथन मे ही पूर्वापर विरोध होता है। वह पहले कुछ कह देता है और पीछे उसी के विरुद्ध कोई अन्य बात कह डालता है। वह अगली बात कहते समय पिछली बात को भूल जाता है। यह उसके अज्ञान या भ्रम का परिणाम है। केवल-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अज्ञान का लेश भी नही रहता। अतएव केवली के कथन मे पारस्परिक विरोध को स्थान नही हो सकता। यही कारण है कि जैनागमों में परस्पर विरोध नही है, जब कि अन्य आगमों में स्थान-स्थान पर परस्पर विरुद्ध मन्तव्य दिखाई देते हैं। यथा, एक जगह लिखा है कि—

न हिंस्याद् सर्वभूतानि।

अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा नही करनी चाहिये। परन्तु अन्यत्र यज्ञ-याग का विधान करते हुए हिंसा का समर्थन कर दिया गया है और गोमेध, अश्वमेध तथा नरमेध यज्ञ तक की हिमायत की गई है। इस पर तुर्रा यह है कि यज्ञ के निमित्त मारे जाने वाले जीवों को तथा मारने वालो को भी स्वर्ग की प्राप्ति का लालच दे दिया है।

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः।

अर्थात् जो पशु आदि प्राणी यज्ञ के लिये मारे गये हैं वे उच्च गति-स्वर्ग-पाते हैं।

इस कथन के उत्तर में पशुओ का पक्ष लेते हुए एक कवि ने बड़ी ही मार्मिक भाषा मे कहा है—

कहे पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि,
डारत हुताशन में कौन सी बड़ाई है।
जो तू यह जानत है वेद यो बखानत है,
जग्य जरो जीव पावे स्वर्ग सुखदाई है।

डारै क्यों न वीर ! यामें अपने कुटुम्ब ही को,
मोहि मत जारे जगदीश की दुहाई है ॥

दीन पशु कहता है—अरे यज्ञ कर्त्ता ! मुझ जैसे दीन-हीन असमर्थ प्राणी को आग में झोंक देने में तेरी क्या बहादुरी है ? क्या बड़प्पन है, क्या महत्त्व है ? यदि सचमुच तेरा यह विश्वास है और तेरा वेद यह प्ररूपणा करता है कि यज्ञ में मारा जाने वाला जीव स्वर्ग के सुखों का भागी होता है तो भाई ! अपने माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि परिवार को ही उस आग में क्यों नही झोंक देता ? उन्हे स्वर्ग में क्यों नही पहुंचा देता ? मेरे ऊपर जो कृपा कर रहा है वह अपने कुटुम्बी जनों पर क्यो नही करता ? तुझे ईश्वर की सौगन्ध है; मुझे मत जला। फिर भी अगर तू मुझे ही जलाता है और परिवार को नही, तो मैं समझता हूं कि तुझे अपनी ही बात पर भरोसा नही है।

तो इस प्रकार हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं। इस प्रकार :—

नानृतं ब्रूयात् ।

अर्थात्—असत्य भाषण नही करना चाहिए; इस प्रकार असत्य का निषेध करने के बाद कह दिया है—

ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात् ।

अर्थात्—ब्राह्मण को लाभ पहुंचता हो तो झूठ बोल देना चाहिए।

मतलब यह हुआ कि ब्राह्मण के फायदे के लिए किया गया अधर्म भी धर्म हो जाता है !

एक जगह कहा है :—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति ।

सो उपयोग की अपेक्षा से है। तात्पर्य यह है कि किसी आत्मा में एक साथ चारों ज्ञानो का क्षयोपशम रह सकता है, तथापि उनका व्यापार-उपयोग क्रमशः ही होता है। जब मतिज्ञान से जीव जानता है तव श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान या मनः पर्यायज्ञान से नही जानता। इसी प्रकार श्रुतज्ञान आदि में से किसी एक की प्रवृत्ति के समय दूसरे ज्ञान को प्रवृत्ति नही होतो। जव भी होगा कोई एक ही ज्ञान व्याप्त होगा। अतएव पूर्वोक्त दोनों कथन परस्पर विरोधी नही हैं।

जब एक ज्ञान होता है तो अकेला केवल ज्ञान होता है। केवल-ज्ञान जीव के चेतना गुण का परिपूर्ण विकास है और परिपूर्ण विकास होने पर अपूर्ण ज्ञानों की सत्ता का प्रश्न ही नही उठता। वह पूर्णतया स्वाश्रयी है; परावलम्बन की उसे आवश्यकता नही होती। शेर अकेला ही जंगल मे रह सकता है। उसे गीदड़ों की सहायता की आवश्यकता ही क्या है ?

एक आत्मा में जब दो ज्ञान होते हैं तो मति और श्रुत ज्ञान ही होते हैं। तीन हो तो मति, श्रुत और अवधि या मति, श्रुत और मन' पर्याय होते हैं। चार हों तो यही चारो होते हैं।

मिथ्या दृष्टि में कम से कम दो और अधिक से अधिक तीन अज्ञान पाये जा सकते हैं। मन.पर्याय और केवल-ज्ञान मिथ्या दृष्टि जीवको प्राप्त नही हो सकते, अतएव मिथ्यात्व के संसर्ग से वे कलुषित नही होते। इसी कारण उनका ज्ञान रूप परिणमन भी नही होता है।

यहां मिथ्या ज्ञान और सम्यक्ज्ञान का विवेचन करने का आशय यह स्पष्ट करना है कि जो पूर्ण भाव को जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है, और सब कुछ जान लेने पर ही एक पूर्ण भाव जाना जा सकता है।

तो यहाँ एक का अर्थ आत्मा है। जो इस सूत्र के गंभीर मर्म को समझ सकता है, वह जान सकता है कि यहा एक का अभिप्राय आत्मा ही है। कई लोग एक का अर्थ परमात्मा करते हैं, परन्तु यह संगत नही है। महात्मा और परमात्मा का मूल आत्मा है। परमात्मा को समझने के लिए आत्मा को समझना अनिवार्य है। आत्मा को जो नही जानता वह परम+आत्मा को कैसे समझेगा ?

राधास्वामी मत पजाब में विशेष रूप से प्रचलित है। आगरा में इस मत की प्रधान गद्दी है। एक वार मेरा चौमासा अमृतसर के समीप पट्टी नामक नगर में था। वहाँ इस मत के अनुयायी एक भाई व्याख्यान में आए। व्याख्यान के बाद उन्होने भी बोलने की आज्ञा मांगी। उन्होने कहा—'आजकल लोग परमात्मा के पीछे पड़े रहते हैं और आत्मा की बात ही नहीं करते। परमात्मा के सम्बन्ध में चर्चाएं होती हैं, वाद-विवाद होते हैं, खण्डन-मण्डन के दौर चलते हैं, पर आत्मा की किसी को चिन्ता ही नही है।'

एक बात मुझे उनकी कई बार याद आती रहती है। उन्होंने कहा—'बी० ए० और एम० ए० की बात करते हो, वर्णमाला की बात ही नही पूछते। योग्यता के अनुसार बात करनी चाहिए।' फिर कहा—'परमात्मा औतड़ा ही चला जांदा, जे आत्मा न होदा।' पंजाबी भाषा में औतड़ा का अर्थ है—निस्सन्तान, बे औलाद। अर्थात् आत्मा न होता तो परमात्मा निपूता ही चला जाता।

यद्यपि 'औतड़ा' शब्द हल्का है, तथापि उसके कहने का भाव हल्का नहीं है। बाप का अस्तित्व बेटे से है। बिना बेटे के बाप का पद तो किसी को प्राप्त नही हो सकता। इसी प्रकार राजा या राज्य का अस्तित्व प्रजा से है। शिक्षक का अस्तित्व शिष्य से है। गुरु का अस्तित्व चेले पर निर्भर है। इसी प्रकार परमात्मा का अस्तित्व आत्मा से है।

अर्थात् जो पुत्रहीन होकर मरता है, वह सद्गति नही पाता।

पुत्र हो, वह पिता का श्राद्ध करे और ब्राह्मणों का मिष्टान्न आदि का भोजन करावे तो पितरो को सद्गति मिल जाय ! अपनी जाति के हितो की रक्षा के लिए बड़ी दूर की सूझी है परन्तु जब यह बात कही तो दूसरी बात याद ही नही रही। वह यह थी—

अनेकानि सहस्राणि, कुमार ब्रह्मचारिणाम्
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥

अर्थात् -आजीवन ब्रह्मचारी विप्र, सन्तान उत्पन्न किये बिना ही हजारो की संख्या मे स्वर्ग पहुँचे हैं।

उधर तो निपूते को स्वर्ग नही मिलता और इधर हजारों को स्वर्ग मिल गया ! अब कहिए, दोनों मे से किस पर विश्वास करे ?

तो इस प्रकार परस्पर विरोधी प्ररूपणा करने वाला आगम सर्वज्ञमूलक नही हो सकता।

इस प्रकार जैनागम का स्पष्ट और निर्विवाद कथन है कि मुक्तात्मा संसार मे नही आ सकते; फिर भी उन्हे मंत्र पढ़कर या बाजे बजाकर बुलाना कहां तक उचित है ? इस प्रकार की भावना आगमानुकूल नही कही जा सकती। संसार के कारागार मे मुक्तात्मा को बुलाने का विचार भी प्रशस्त विचार नही है।

आप जानते हैं कि छिलके वाला बीज ही उगता है। भूमि कितनी ही उत्तम हो पानी कितना ही अच्छा हो, और अनुष्ठान भी कितना ही उपयुक्त हो, पर बिना छिलके का बीज नही उग सकता। इसी प्रकार मुक्तात्मा का भवावतरण नहीं हो सकता।

साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या है, इन्द्र में, यहा तक कि तीर्थंकर भगवान् मे भी चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन

बनाने का सामर्थ्य नहीं हैं। जीव सदा जीव ही रहता है, अजीव सदा अजीव ही रहता है। और ससारी जीव अनादि काल से अजीव के साथ रह रहा है और दूध-पानी की तरह एकमेक हो रहा है, फिर भी वह जीव ही रहा और जीव ही रहेगा। न अजीव बना और न बन सकेगा। इसी प्रकार अजीव जीव नहीं बन सकता। दोनों अपने-अपने धर्म में अविचल हैं। अतएव जड को चेतन या चेतन को अचेतन समझना मिथ्यात्व है। इस प्रकार की श्रद्धा मिथ्या श्रद्धा है।

इस प्रकार विपरीत श्रद्धा जिसकी होती है, उसका ज्ञान अज्ञान अर्थात् मिथ्या ज्ञान कहलाता है और जिसकी श्रद्धा समीचीन होती है उसका ज्ञान सम्यक् ज्ञान होता है।

जो जीव ज्ञानी होते हैं उनमें नंदी सूत्र में बतलाए गए पांच ज्ञानों में से कोई एक ज्ञान वाले, कोई दो ज्ञान वाले, कोई तीन ज्ञान वाले और कोई चार ज्ञान वाले होते हैं। पांचों ज्ञान एक साथ किसी भी आत्मा मे नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं, जबकि केवलज्ञान क्षायिक है। क्षायोपशमिक और क्षायिक ज्ञान के स्वरूप में बहुत अन्तर है; अतएव दोनों प्रकार के ज्ञान साथ-साथ संभव नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि एक तरफ एक साथ एक जीव में चार ज्ञान तक होना कहा गया है, और दूसरी तरफ कहा गया है—

जुगवं दो नत्थि उवओगा।

अर्थात्—एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते।

इस पारस्परिक विरोध का क्या कारण है? इसका उत्तर यह है कि एक से अधिक दो, तीन और चार ज्ञान एक साथ होना जो कथन है वह लब्धि की अपेक्षा से है और दो ज्ञानों का जो निषेध है

सो उपयोग की अपेक्षा से है। तात्पर्य यह है कि किसी आत्मा में एक साथ चारो ज्ञानो का क्षयोपशम रह सकता है, तथापि उनका व्यापार-उपयोग क्रमशः ही होता है। जब मतिज्ञान से जीव जानता है तव श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान या मनः पर्यायज्ञान से नही जानता। इसी प्रकार श्रुतज्ञान आदि में से किसी एक की प्रवृत्ति के समय दूसरे ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती। जब भी होगा कोई एक ही ज्ञान व्याप्त होगा। अतएव पूर्वोक्त दोनों कथन परस्पर विरोधी नही हैं।

जब एक ज्ञान होता है तो अकेला केवल ज्ञान होता है। केवल-ज्ञान जीव के चेतना गुण का परिपूर्ण विकास है और परिपूर्ण विकास होने पर अपूर्ण ज्ञानों की सत्ता का प्रश्न ही नही उठता। वह पूर्णतया स्वाश्रयी है; परावलम्बन की उसे आवश्यकता नहीं होती। शेर अकेला ही जंगल में रह सकता है। उसे गीदड़ों की सहायता की आवश्यकता ही क्या है ?

एक आत्मा मे जब दो ज्ञान होते हैं तो मति और श्रुत ज्ञान ही होते हैं। तीन हों तो मति, श्रुत और अवधि या मति, श्रुत और मन. पर्याय होते हैं। चार हों तो यही चारो होते हैं।

मिथ्या दृष्टि में कम से कम दो और अधिक से अधिक तीन अज्ञान पाये जा सकते हैं। मन.पर्याय और केवल-ज्ञान मिथ्या दृष्टि जीवको प्राप्त नही हो सकते, अतएव मिथ्यात्व के संसर्ग से वे कलुषित नही होते। इसी कारण उनका ज्ञान रूप परिणमन भी नही होता है।

यहा मिथ्या ज्ञान और सम्यक्ज्ञान का विवेचन करने का आशय यह स्पष्ट करना है कि जो पूर्ण भाव को जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है, और सब कुछ जान लेने पर ही एक पूर्ण भाव जाना जा सकता है।

तो यहाँ एक का अर्थ आत्मा है । जो इस सूत्र के गंभीर मर्म को समझ सकता है, वह जान सकता है कि यहा एक का अभिप्राय आत्मा ही है । कई लोग एक का अर्थ परमात्मा करते हैं, परन्तु यह संगत नही है । महात्मा और परमात्मा का मूल आत्मा है । परमात्मा को समझने के लिए आत्मा को समझना अनिवार्य है । आत्मा को जो नही जानता वह परम+आत्मा को कैसे समझेगा ?

राधास्वामी मत पजाब में विशेष रूप से प्रचलित है । आगरा में इस मत की प्रधान गद्दी है । एक बार मेरा चौमासा अमृतसर के समीप पट्टी नामक नगर में था । वहाँ इस मत के अनुयायी एक भाई व्याख्यान में आए । व्याख्यान के बाद उन्होने भी बोलने की आज्ञा मांगी । उन्होंने कहा—'आजकल लोग परमात्मा के पीछे पड़े रहते हैं और आत्मा की वात ही नही करते । परमात्मा के सम्बन्ध में चर्चाएं होती हैं, वाद-विवाद होते हैं, खण्डन-मण्डन के दौर चलते हैं, पर आत्मा की किसी को चिन्ता ही नही है ।'

एक वात मुझे उनकी कई बार याद आती रहती है । उन्होंने कहा—'बी० ए० और एम० ए० की बात करते हो, वर्णमाला की बात ही नही पूछते । योग्यता के अनुसार बात करनी चाहिए ।' फिर कहा—'परमात्मा औतड़ा ही चला जादा, जे आत्मा न होंदा ।' पंजाबी भाषा मे औतड़ा का अर्थ है—निस्सन्तान, बे औलाद । अर्थात् आत्मा न होता तो परमात्मा निपूता ही चला जाता !

यद्यपि 'औतड़ा' शब्द हल्का है, तथापि उसके कहने का भाव हल्का नहीं है । बाप का अस्तित्व बेटे से है । बिना वेटे के बाप का पद तो किसी को प्राप्त नही हो सकता । इसी प्रकार राजा या राज्य का अस्तित्व प्रजा से है । शिक्षक का अस्तित्व शिष्य से है । गुरु का अस्तित्व चेले पर निर्भर है । इसी प्रकार परमात्मा का अस्तित्व आत्मा से है ।

जीव ने ही परमात्मा को बापू का रूप प्रदान किया है। आत्मा पुत्र है, परमात्मा पिता है। पुत्र की बदौलत ही पिता 'पिता' है।

आत्मा में महात्मा और परमात्मा का समावेश हो जाता है। 'महा' और 'परम' विशेषण लगने पर आत्मा ही महात्मा और परमात्मा का रूप धारण कर लेता है। 'अनतीति आत्मा', यह आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति है और चैतन्य उसका असाधारण लक्षण है। यह लक्षण एकेन्द्रिय से लेकर सिद्ध तक सब जीवों मे घटित होता है। सामान्य रूप से वह सब आत्मा ही हैं। विकास की विभिन्न श्रेणियों को सूचित करने के लिए ही 'महा' या 'परम' विशेषण लगाये गये हैं। जो ज्ञान-चरित्र से वृद्धि को प्राप्त है वह महात्मा कहलाता है, और जिसके यह गुण पराकाष्ठा पर पहुंच चुके हों, वह परमात्मा। किन्तु आत्मा सर्व हैं। आत्मा के अभाव में महात्मा या परमात्मा का कोई अस्तित्व नही है। बिन्दी अक पर लगती है। अक के अभाव में लगाई गई बिन्दी का कोई मूल्य नही है। इस प्रकार सब गाड़ियाँ घूमघामकर जकशन पर ही आती हैं।

संसार में जितने भी शास्त्र हैं, सब आत्मा के लिए ही हैं। जितने उपदेश और उपदेशक हैं, सब आत्मा के परिष्कार के लिए ही हैं। आत्मशुद्धि के लिए ही सब धार्मिक विधिविधान हैं। साधु की चर्या और श्रावक की चर्या आत्मा के लिए ही है। अतएव सत्पुरुषों के लिए यदि कुछ ज्ञातव्य है तो वह आत्मा ही है।

परन्तु आत्मा को समझने की तरफ हमारा ध्यान नही जाता। यों देखा जाय तो आत्मा को समझना कठिन नहीं है, वरन् अत्यन्त सरल है। आत्मा को समझना अपने आपको समझना ही है। जो अपने को नही समझता वह दूसरे को क्या खाक समझ सकता है।

हमारे जीवन-सम्बन्धी जो भी व्यापार चल रहे हैं, उन सबके मूल में आत्मा ही रहा हुआ है। आत्मा के बिना जीवन-सम्बन्धी कोई

क्रिया नहीं होती। खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना, बोलना, सुख-दुःख का अनुभव करना आदि सभी व्यापार आत्मा पर निर्भर हैं। अतएव जब हम इन व्यापारों का अनुभव करते हैं तो एक प्रकार से आत्मा का ही अनुभव करते हैं; क्योंकि यह व्यापार आत्मा के प्रकाशक हैं। फिर भी संसारी जीवों का बहुभाग इतना संज्ञाहीन है कि उसका लक्ष्य आत्मतत्व की ओर नही झुकता है। वह विचार-हीनता के कारण इन सब व्यापारो के सचालक की ओर ध्यान नहीं देता और समझता है कि मानो शरीर ही इन सब व्यापारों का जनक है। शरीर स्थूल और इन्द्रियगम्य है। वह अनायास ही दृष्टिगोचर हो जाता है। अतएव स्थूलदृष्टि लोग शरीर को ही सब कुछ समझते हैं। उनकी समझ मे हाड-मांस का बना यह ढाँचा ही सब व्यापार कर रहा है। उसे नही मालूम कि शरीर जड़ है और उसमें सोचने-समझने की बुद्धि नहीं है। हमारे जीवन व्यापार यों ही विना किसी उद्देश्य या प्रयोजन के, बिना किसी लक्ष्य के, नही चल रहे हैं। उनके पीछे विशेष लक्ष्य और प्रयोजन होता है। इस लक्ष्य या प्रयोजन का आधार क्या है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ही आत्मा की समझ छिपी है। जो हमारे जीवन-व्यापारों को विशिष्ट दिशा प्रदान करता है, जो लक्ष्य बनाता है, और उसकी पूर्ति के लिए तदनुकूल प्रयत्न करता है, जो बाधक परिस्थितियों से बच कर साधक कारणों को अपनाता है, वह जड़ नही हो सकता। वह जड़ से भिन्न एक स्वतंत्र ही तत्त्व है, जिसमें सोचने-समझने का सामर्थ्य है, और वही आत्मा कहलाता है।

इस प्रकार विचार करने वाले के लिए आत्मा को समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जो लोग श्रद्धावश आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते

हैं, वे भी अपने व्यावहारिक जीवन में उसे भूल जाते हैं। आप लोग जानते और मानते हैं कि शरीर अलग और आत्मा अलग है। जिनेन्द्र भगवान् की वाणी सुनते-सुनते आपको यह बात विदित हो गई है। चर्चा का प्रसंग उपस्थित होने पर आप दोनों के भेद का समर्थन भी करेंगे और यदि कोई आत्मा का पृथक् अस्तित्व न मानेगा तो उसे नास्तिक या मिथ्यादृष्टि होने का प्रमाणपत्र देने से न चूकेंगे। परन्तु आपकी यह प्रतीति क्या स्थायी रहती है ? जब आप धर्म-स्थान छोडकर दुकान या बाजार में जाते हैं, तब भी क्या यही धारणा स्थिर रहती है ? जब शरीर में कोई रोग उत्पन्न हो जाता है तब क्या भावना होती है ? जब किसी प्रिय जन का वियोग होता है, उस समय यह संस्कार दब तो नही जाता ?

ऐसे प्रसंगो पर अधिकांश लोग यथार्थता भूल जाते हैं। उन्हें ख्याल नही रहता कि बीमारी शरीर में उत्पन्न हुई है। उस समय वे शरीर और आत्मा को एक ही समझने लगते हैं।

मैं गोरा हू, काला हूं, मैं वृद्ध, युवा या बालक हूं, सबल या निबल हू, धनी या निर्धन हूं, इस प्रकार की उक्तियां मनुष्य के आत्मा-सम्बन्धी अज्ञान को ही सूचित करती हैं। इनसे पता चलता है कि उसे अपने असली स्वरूप का भान नही है और यदि है भी तो उसे भूल गया है। वास्तव में आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित चेतनामय सत्ता है। वह न गोरा होता है और न काला; न बालक होता है, न वृद्ध ही। उसमें अनन्त बल है। वह अपने गुणो के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का—धन-दौलत, महल-मकान आदि का स्वामी नही हो सकता। किसी भी पर-पदार्थ के साथ आत्मा का सम्बन्ध नही है। फिर भी उक्त प्रकार की जो धारणाएं बनी हुई हैं, वे अज्ञान का परिणाम हैं।

जो जीव अज्ञानवश शरीर और आत्मा को एक ही मान रहे हैं वे बहिरात्मा कहलाते हैं। बहिरात्मा जीव आत्मा को शरीर से अभिन्न समझ कर ही व्यवहार करता है। जिसने शरीर और आत्मा के पार्थक्य को समझ लिया है, अतएव जो शरीर की नाना-विधि परिणतियों से आत्मा को अलग समझता है, वह जीव अंतरात्मा कहलाता है। अंतरात्मा जीव आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को समझ कर ही नहीं रह जाता, वरन् उसे जड़ पदार्थों के प्रभाव से मुक्त करने का भी प्रयत्न करता है। उसमें विवेक दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। विवेक दृष्टि उत्पन्न होने पर बाह्य घटनाएं उसे व्याकुल नही कर पाती। कठिन से कठिन प्रसग भी उसे विचलित नही कर सकते।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र में नमिराज की प्रव्रज्या का उल्लेख आया है। संसार के अप्रिय एवं कटुक अनुभव के पश्चात् वे दीक्षित हो गये। वह प्रजा के अत्यन्त प्रिय राजा थे। अतएव उनके दीक्षित होने से समग्र मिथिला नगरी में कोलाहल मच गया। तब इन्द्र ने एक ब्राह्मण का रूप धारण करके उन्हें बहुत कुछ समझाने और दीक्षा विरत करने की चेष्टा की। नमिराज जी मुनि से कितने ही इन्द्र ने प्रश्न किये। नमिराज ने उसे उचित उत्तर प्रदान किये। वह प्रश्नोत्तर बडे महत्त्व के हैं और उनसे ब्राह्मण संस्कृति तथा जैन संस्कृति और धार्मिक दृष्टि का अन्तर स्पष्ट समझ में आ जाता है।

उसी सिलसिले में ब्राह्मण-वेपी इन्द्र ने कहा था—भगवन्! देखो, मिथिला मे आग जल रही है और राजप्रासाद उसमें जल रहा है। उसकी तरफ आपकी दृष्टि नही जाती?

इस कथन के उत्तर में नमि राजर्षि ने जो कुछ कहा था, वह बड़ा ही सुन्दर है और उससे हम समझ सकते हैं कि आत्मा-अनात्मा का भेद समझ लेने वाले अन्तरात्मा की विचारणा कैसी होती है? उन्होने उत्तर दिया था—

सुहं वसामो जीवामो जेसि मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए उज्झमाणीए, न मे उज्झइ किंचणं ॥

उत्तराध्ययन, ६, गा. १४।

अर्थात्—हम तो आनन्द में बसते हैं और मस्ती में जीवन-यापन करते हैं। इस संसार में जो भी है, मेरा कुछ भी नही है। ऐसी स्थिति में अगर मिथिला जल रही है तो भी मेरा कुछ नही जल रहा है। मैं अनन्त चैतन्यघन हूं और मुझ तक अग्नि की पहुंच नही हो सकती। भौतिक आग भौतिक पदार्थों को ही जला सकती है, वह अरूपी, अमूर्तिक, अनाकार आत्मा का कुछ भी नही बिगाड़ सकती।

सज्जनो ! यह उत्तर कितना बोधप्रद है ? इस उत्तर में जीवन की एक बहुमूल्य कला निहित है और सुख-दुःख का रहस्य छिपा हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्य अपनी भावना के कारण ही अपने लिए दुःख की सृष्टि करता है। अगर वह समझ ले और निश्चय कर ले कि संसार की समस्त वस्तुएं मुझ से भिन्न हैं और उनके साथ मेरा कोई नाता-रिश्ता नही है ; वे चाहे बनें या बिगड़ें, मेरा उनसे कोई सरोकार नही है, तो वह सहज ही अनेक दुःखों से बच सकता है।

नमि राजर्षि के बदले कोई और राजा होता, जिसकी राजमहल में आसक्ति होती, तो वह उसके जलने की बात सुनते ही घोर दुःख और शोक से अभिभूत हो जाता। वह छटपटाने लगता। मगर नमिराज के चित्त पर उस समाचार का किंचित् भी असर न हुआ। इसका एक मात्र कारण उनकी विवेक दृष्टि ही थी। तो स्पष्ट है कि जो विवेकदृष्टि से सम्पन्न होता है, वह संसार की अनेक पीड़ाओं से बच जाता है।

मगर यहां तो अन्तरात्मा का स्वरूप समझाने के लिए यह उदाहरण दिया गया है। अंतरात्मा को यह निश्चय हो जाता है कि मैं जगत के समस्त अन्य पदार्थों से पृथक् और निराला हूं। यहां तक कि शरीर भी मेरा नहीं है। मैं चेतन और शरीर जड़ है। मैं अमूर्त्तिक और शरीर मूर्त्तिक है। अतएव शरीर भी मेरा नहीं है।

प्राचीन काल के अनेक महर्षियों के जीवनवृत्तान्त आप पढ़ते और सुनते हैं। उन्होने इतनी भयानक वेदना सहन की कि उसके वर्णन को सुनकर ही आपका कलेजा कांप उठता है और आप सोचने लगते हैं कि इतनी दारुण पीड़ा उन्होंने कैसे सहन की होगी ? परन्तु गहराई में उतर कर देखो तो प्रतीत होगा कि उनकी लोकोत्तर सहन शक्ति का आधार उनकी यह पारमार्थिक भावना ही थी। जब गजसुकुमार का मस्तक हंडिया की तरह खदबदा रहा था, तब वे सोचते थे कि मस्तक या शरीर के जलने पर भी मेरा कुछ नहीं जल रहा है। जो विचार नमिराज का मिथिला के सम्बन्ध में था, वही विचार गजसुकुमार का मस्तक के विषय में था। तब उन्हें वह पीड़ा क्यों होती जिसका अनुमान करके आप विस्मित हो जाते हैं !

यही बात स्कंदक आदि मुनीश्वरों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अन्तरात्मा जीव को विवेक भावना का वह अमोघ कवच प्राप्त हो जाता है, जिसे धारण करने पर दुनियां की कोई वस्तु या कोई भी घटना उसे प्रभावित नहीं कर सकती। इस कारण वे सदा सुख में ही निवास करते हैं।

परमात्मा, आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था का नाम है। इस प्रकार जो बहिरात्म दशा का त्याग करके अन्तरात्मा बनते हैं और परमात्मा के ध्यान में लीन रहकर उस दशा को प्राप्त करने के

लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे इसी जीवन में परम-सुख प्राप्त कर लेते हैं और भविष्य में अनन्त आनन्द के पात्र बनते हैं। इस प्रकार आत्मा को पहचानना ही प्रधान साध्य है। जिसने आत्मा को जान लिया, उसे कुछ भी जानना शेष नही रहा।

ऐसा समझ कर जो आत्मा को समझने का प्रयत्न करेंगे वे परमात्मा बनकर संसार-समुद्र से तिर जाएंगे।

राजकोट,
१-८-५४

: २ :

आत्मोपासना का आदर्श

वोर. सवसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचय हे वीर ! भद्र दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्नत्रयाराधका,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

भद्र पुरुषो और बहिनो !

अभी आपके समक्ष अरिहन्त प्रभु की स्तुति की गई है, क्योंकि वे अनन्त आत्मिक गुणों के कोष हैं, भण्डार हैं। यह बात लोक में प्रसिद्ध है और सभी जानते हैं कि जो मनुष्य जिस गुण को प्राप्त करना चाहता है, वह उस गुण में पराकाष्ठा को प्राप्त पुरुषों की उपासना करता है, उनका आदर करता है, उनके प्रति बहुमान व्यक्त करता है और उसकी स्तुति करता है ऐसा करके वह प्राप्तव्य गुण के प्रति अपने अन्तःकरण में श्रद्धा और निष्ठा जागृत करता है, जिससे प्रेरित होकर वह इस गुण की प्राप्ति की साधना में दृढ़ता-पूर्वक अग्रसर हो सके और सतत् आगे ही बढ़ता जाय।

जिसने आत्मा के स्वरूप को समझ लिया और उसे विशुद्ध बनाने के लिए उत्सुक है, दूसरे शब्दों में, जो आत्मिक गुणों का आविर्भाव करना चाहता है, उसके लिए अरिहन्त भगवान ही आदर्श हो सकते हैं, क्योंकि उनके आत्मिक गुण पराकाष्ठा को प्राप्त हो चुके हैं। यही कारण है कि आत्मकल्याण के अभिलाषी मुमुक्षु अरिहन्त भगवान् की स्तुति करते हैं। अगर हम भी उस पथ के पथिक हैं तो हमे भी यही करना होगा।

यों तो संसार में देवों की कमी नहीं है। प्रत्येक धर्म और मत के अपने-अपने देव है। परन्तु उनके भक्तों और अनुयायियों ने ही उनके चरित्र का जैसा चित्रण किया है उसे पढ़-सुन कर हम इस परिणाम पर पहुचे विना नही रह सकते कि उनमें सर्वज्ञता और वीतरागता का अभाव है। वे साधारण मानव की भांति ही भोगासक्त और अल्पज्ञ जान पडते हैं। और जब हम उन्हें साधारण मनुष्य की तरह मोह माया के जाल में फंसा हुआ देखते हैं तो किस प्रकार उन्हें अपने जीवन का आदर्श बनाएं ? हमें उन सरीखा बनना है तो फिर साधना की आवश्यकता ही क्या है ? जो देव अपने साथ शस्त्र रखते हैं, स्त्री जिनके पार्श्व की शोभा बढ़ाती है, जो संग्राम भूमि में अवतीर्ण होकर अपने मानव-शत्रुओं का संहार करते हैं और छल कपट का सहारा लेते हैं, उनमें देवत्व का गुण कैसे माना जाए ? देव का असली स्वरूप यह है—

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थ वादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥

अर्थात् जो भूत, वर्तमान और भविष्य केसमस्त पदार्थों की समस्त पर्यायो का ज्ञाता है, जिसने राग-द्वेष क्रोध, मान-माया-लोभ आदि सब आन्तरिक दोपों–विकारों को जीत लिया है और इस कारण जो

देवों, दानवेन्द्रों, नरेन्द्रों आदि के द्वारा पूजनीय है तथा तत्त्वों का यथार्थ रूप से उपदेशक है, वह अर्हन् परमेश्वर ही सच्चा देव है।

अभिप्राय यह है कि जिसमें (१) ज्ञान अतिशय, (२) अपायापगम अतिशय (३) पूजातिशय और (४) वचनातिशय विद्यमान है, वही मुमुक्षु जीवों के लिए आदर्शभूत देव हो सकता है। अतएव—

ध्यातव्योऽयमुपस्योयमयम् शरणमिष्यताम्।
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं, शासनं चेतनाऽस्ति चेत्॥

आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—हे मुमुक्षु! यदि तुझमें सत्य-असत्य को समझने की बुद्धि (चेतना) है तो तुझे अर्हन् प्रभु का ही ध्यान करना चाहिये, उन्हीं की उपासना करनी चाहिये और उनकी ही शरण ग्रहण करनी चाहिये।

आत्मा का कल्याण चाहने वालों के लिये वीतराग भगवान ही आदर्श और उपासनीय हो सकते हैं। जगत के अन्य देव देवत्व की कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

स्त्री जिनकी अंकशायनी है उन्हें कामवासना का विजेता कैसे कहा जा सकता है? संसार के साधारण मनुष्य स्त्री के बन्धन में बँधे हुये रहते हैं और कामवासना की आग से संतप्त हैं, उससे छुटकारा पाने के लिये भगवान् की शरण में जाना है। किन्तु भगवान् स्वयं यदि स्त्री के गुलाम हों तो उनकी शरण में जाने से क्या लाभ होगा? राग और द्वेष दोनों साथी हैं। जहां राग होता है वहां द्वेष अवश्य होता है। अतएव जहां स्त्री आदि संबंधी राग विद्यमान हैं वहां द्वेष के अस्तित्व का भी अनुमान किया जा सकता है। राग और द्वेष भव-भ्रमण के मूल कारण हैं। शास्त्र में भी कहा है—

रागो अ दोसो वि य कम्ममूलं।

राग और द्वेष कर्मों के कारण हैं। इन्ही की बदोलत जीव सांसारिक दुःखो का पात्र बनता है। जिस आत्मा में दोनों दोष विद्यमान हैं, समझ लेना चाहिये कि उसमे अन्य सभो दोष भी मौजूद हैं और वह साधारण मनुष्य से बढ़ कर नही हो सकता।

और शस्त्रों का रखना किस बात की सूचना करता है? उससे पता चलता है कि शस्त्रधारी का कोई न कोई शत्रु अवश्य है, उसके मन में किसी से भय है, उसमें निर्बलता है। अन्यथा सुदर्शन चक्र या त्रिशूल आदि रखने की क्या आवश्यकता है? आत्मसाधना के लिये इन शस्त्रों की कोई उपयोगिता नही है।

तो जो नाना प्रकार की विकृतियों और बुराइयों को नही त्याग सके हैं और संसार से नही तिर सके हैं, वे अपने भक्तों और आश्रित जनों को कैसे तार सकेंगे? इसीलिये शास्त्रो में "तिण्णाण तारयाणं" पाठ आता है। जो स्वयं ससार-सागर को पार कर चुका है वही दूसरों को पार कर सकता है। जो स्वयं मंझदार में पड़ा गोते खा रहा है, उससे यह आशा करना कि वह हमें परले पार पहुंचा देगा, मूढता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

आशय यह है कि आप जिस स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं वह स्वरूप जिसे प्राप्त हो गया हो, उसकी उपासना करो और उसी की शरण में जाओ। तभी आपका कल्याण होगा। अगर आप पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण वीतराग और अनन्त आनन्द के स्वामी बनना चाहते हैं तो आपको अरिहन्त भगवान् की ही शरण ग्रहण करनी चाहिए। वही आपके आदर्श और उपास्य होने चाहिए। अरिहन्त भगवान् देवों के भी देव हैं। उनकी उपासना करने के पश्चात् अन्य की उपासना करने की आवश्यकता नहीं रहती।

अरिहन्त भगवान् की अन्तःकरण से उपासना करने पर हमें भी उन्ही गुणो की प्राप्ति होती है जो गुण भगवान् को प्राप्त हो चुके हैं। यही उपासना का उद्देश्य है, यही प्रयोजन है।

यह तथ्य सर्वविदित है कि जैसें की संगति की जाएगी, वैसे ही गुणों की प्राप्ति होगी ।

प्रश्न हो सकता है कि इस पचम आरे मे अरिहन्त भगवान् हमारे समक्ष विद्यमान नहीं हैं। तब उनकी संगति किस प्रकार की जा सकती है ? इसका उत्तर यह है कि सग-साथ करने के तीन रूप हैं। हम अपने मन, वचन और काय से भगवान् अरिहन्त के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।

मन, वचन और काय को योग—जोड़ना—कहते हैं। इन तीनों योगों से हम अपनी आत्मा से जुडे हुए हैं और इन्ही के द्वारा अरिहन्त भगवान् मे भी जुड सकते हैं।

भगवान् के साथ मनोयोग से जुड़ने का अर्थ है—अरिहन्त भगवान् के गुणों मे मन को लीन कर देना। जब मन अर्हद्गुणों में लीन हो तब काया का स्थिर हो जाना, नम्र होना, काययोग का जुड़ना है।

केवल काय से जुड़ने का कोई महत्व नही है। यो तो काय से जुड़ने पर भी योग-जोड़ हो जाता है, परन्तु प्रभु के साथ मानसिक मेल हो तो ही कायिक मेल ठीक बैठता है।

अरिहन्त भगवान् के लोकोत्तर गुणों की स्तुति करना उनके साथ वाचनिक जोड़-मेल कहलाता है।

मनुष्य के पास यही तीन शक्तियां हैं—साधन हैं। जब यह तीनों साधन एकनिष्ठ हो जाते हैं, अर्थात् मन, वचन और काय प्रभु की उपासना में लीन हो जाते हैं और अन्य सब व्यापार से विरत हो जाते हैं, तभी उत्कृष्ट उपासना होती हैं और वही उपासना उत्कृष्ट फल प्रदान करती हैं।

यद्यपि अरिहन्त भगवान् हमारे समक्ष नही हैं, फिर भी परोक्ष में भी योग व्यापार के अनुसंधान से योगानुरूप निर्जरा होती ही है। उपास्य को उपासना के फल की प्राप्ति के लिये आवश्यक नही कि

उपास्य समक्ष में होना ही चाहिये। जिस काल में साक्षात् तीर्थंकर भगवान् इस भूमि को पावन कर रहे थे और ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे, उस समय भी उनके उपासक सब के सब भगवान् के साथ नही घूमते थे। जब भगवान् किसी एक नगर या ग्राम में होते थे तब अन्य स्थानों के उपासकों के लिये वे परोक्ष में ही रहते थे। फिर भी उपासक उनकी उपासना करते थे। इस तथ्य को प्रकट करने वाले अनेक प्रमाण शास्त्रो में उपलब्ध होते हैं। अनेक स्थलों पर हमे ऐसे पाठ मिलते हैं कि 'अत्थगए तत्थगयं भगवंतं वदामि नमंसामि।' अर्थात् मैं यहाँ रहा हुआ, वहाँ अर्थात् अन्यत्र कही विराजमान भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना-नमस्कार करता हू।

अनुत्तरविमानों के देव अपने स्थान पर स्थित रहकर ही भगवान् को वन्दना नमस्कार करते हैं। वे कभी भगवान के समक्ष आते ही नही हैं।

इससे स्पष्ट है कि भले ही भगवान् हमारे समक्ष न हों फिर भी यदि उपासक अपने तीनों योगों को एकाग्र करके भगवद्गुणों का चिन्तन-कीर्तन आदि करता है तो वह अपनी उपासना का उत्तम से उत्तम फल प्राप्त कर सकता है। इसके लिये उपास्य का सन्निकट होना अनिवार्य नही है।

फल प्राप्ति का मुख्य साधन योग है और योग में भी मनोयोग की प्रधानता है। तीर्थंकर भगवान् का सान्निध्य योग की विशुद्धि में निमित्त बनता है, फिर भी फल की प्राप्ति तो अपने योगों के अनुसार ही होती है। जहां तीर्थंकर देव, अन्य केवली, लोकोत्तर ज्ञानी महामुनि या संयमनिष्ट अन्य अनगार विराजमान होते हैं, वहां सहज ही एक प्रकार का विशिष्ट वायुमडल बन जाता है, जिसके कारण उपासको के हृदय में धर्म-भावना बलवती हो उठती है। यही

उनकी उपस्थिति का विशेष महत्त्व होता है। वहां भी अपनी-अपनी भावना के अनुसार ही विभिन्न साधक फल प्राप्त करते हैं। कुछ लोग तो ऐसे भी मिलते हैं जो ऐसे प्रसंग पर भी संयम-परायण मुनि की निन्दा या जुगुप्सा करके उलटा पाप का बंध कर लेते हैं। इसका कारण भी उनकी भावना ही है।

कहना चाहिए कि उपासक की धार्मिकता की कसौटी तभी होती है, जब वह उपास्य की गैरमौजूदगी में भी अपनी धर्म-भावना और उपासनावृत्ति को उसी प्रकार सजग रखे, जिस प्रकार उपास्य की उपस्थिति में रख रहा था। अगर उपास्य के परोक्ष में उसकी धर्म-वृत्ति गायब हो जाती है तो समझना चाहिए कि उसमें वास्तविक धर्म-भाव उत्पन्न ही नही हुआ, सिर्फ धार्मिक उबाल ही पैदा हुआ था, जो थोडी सी देर ठहर कर शान्त हो गया।

भारतवर्ष बहुत विशाल देश है। इसकी सीमाएं बहुत लम्बी-चौड़ी हैं। दो भागों में विभक्त हो जाने पर भी आज कहां कश्मीर और कहाँ कन्याकुमारी ! जैन साधु रेलों या मोटरों से यात्रा न करके पैदल ही चलते हैं और वे इतनी बडी संख्या में नही हैं कि सब समय सब जगह मौजूद रह सकें। ऐसी स्थिति में यदि आप इस प्रकार की परम्परा बना लें कि हम धर्मगुरु की मौजूदगी में ही धर्म-ध्यान करेंगे और उनके रवाना होते ही धर्मोपासना को भी रवाना कर देंगे तो आपका जोवन ही खतरे में पड जाएगा।

तो जो बात धर्मगुरु के सान्निध्य और असान्निध्य के विषय में है, वही धर्मदेव के सान्निध्य-असान्निध्य के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। भगवान् अरिहन्त धर्म के बीज बो जाते हैं, फिर उसे सींचने वाले सींचते रहते हैं और उसके अमृतोपम फलों का आस्वादन करते रहते हैं। ऐसी बात न होती तो भगवान् का शासन लम्बे समय तक किस प्रकार चलता ?

तीर्थंकर भगवान् मे चतुर्विध संघ की स्थापना की। उसका उद्देश्य क्या है ? यही तो कि संघ के सहारे धर्म की प्रवृत्ति होती रहे, उसमें व्याघात न हो।

अभिप्राय यह है कि अरिहन्त भगवान् चाहे समक्ष हों, अथवा न हों, धर्माचार्य और धर्मोपदेशक सामने विराजमान हों या न हों, उपासक की भावना का फल उसे प्राप्त होगा ही। यदि भावना धर्म की न हुई तो उनके समक्ष रहते भी कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि अरिहन्त देव के सामने न होने पर भी अगर हम अपने मन, वचन और काय को उनके साथ जोडे तो हमें संवर-निर्जरा रूप फल को प्राप्ति अवश्य होगी।

इस वात को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक व्यावहारिक उदाहरण लीजिए कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य कलकत्ता मे रहता है। दूसरा उसका कोई विरोधी यहाँ बैठा-बैठा उसकी निन्दा करता है। कलकत्ते वाला वहुत दूरी पर है और निन्दक द्वारा की जाने वाली निन्दा को वह सुनता नही है। इस कारण अपनी निन्दा से उसे दु:ख भी नही होता है: क्योंकि दु:ख तो तव होता है जव अपनी निन्दा का शब्द उसके कानोंमें पड़ता है और साथ ही उसे समभावसे सहन करने कोशक्ति नहीं होती। जो मनुष्य समभावी है, वह मनोज्ञ शब्द अर्थात् स्तुति आदि को और अमनोज्ञ शब्द अर्थात् निन्दा आदि को सुन कर भी शान्त बना रहता है; किन्तु जिसमें समभाव का विकास नही हुआ है, निन्दा के शब्द सुन कर उसकी शान्ति भग हो जाती है।

निन्दा वडे से वड़ा दुर्गुण है। दूसरो की निन्दा करने वाला चाहे अपने मन में संतोष का अनुभव कर ले, मगर वह दूसरों की दृष्टि में गिरता अवश्य है। उसे कोई भला आदमी नही मानता। शास्त्र में निन्दा करने का विधान तो है, मगर अपने दुर्गुणों की निन्दा करने

का विधान है। पर आज लोग अपने दुर्गुणों को तो छिपाने का प्रयत्न करते हैं अथवा उन्हें सद्गुणों का रूप देकर प्रगट करना चाहते हैं, और दूसरों के अविद्यमान दोषों को प्रगट करते हैं अथवा सद्गुणों को भी दुर्गुण कह कर उनकी निन्दा करते हैं। ऐसे लोग अपनी आत्मा को पतित करते हैं। निन्दक के विषय में एक कवि कहता है—

पक्षिषु काकः चाण्डालः, पशु चाण्डाल जम्बुकः।
मुनीनां कोपश्चाण्डाल., सर्वचाण्डाल निन्दक ॥

अर्थात् पक्षियों में कौवा चाण्डाल है, पशुओ में गीदड़ चाण्डाल है, मुनियों में क्रोध चाण्डाल है, और निन्दक सब में चाण्डाल है, अर्थात् वह कौवे और गीदड से भी गया-बीता है।

परनिन्दा से किस प्रकार कुफल भोगना पड़ता है, यह बतलाते हुए किसी ने कहा है—

श्वा वै भवति निन्दक.।

अर्थात्—निन्दक मनुष्य को मर कर अगले जन्म मे कुत्ते की योनि मे जन्म लेना पड़ता है।

यहाँ तो यही बतलाना हमारा उद्देश्य है कि यद्यपि निन्दा सामने नहीं है, फिर भी निन्दक अपनी दुर्भावना के कारण पापबंध का भागी होता है। पाप और पुण्य का बंध आत्मयोगाश्रित है। निन्द्य को दुःख न होने पर भी निन्दक ने अपनी मलीन और कलुषित भावना के कारण पाप का बंध कर ही लिया। निन्दक की भावना दूषित हुई, उसमें दुर्बुद्धि आ गई, उसका योग दूषित हुआ, अतएव उसने कर्मवर्गणा का आकर्षण किया। जिस-जिस प्रकार योगों में परिस्पन्दन होता है, उसी के अनुसार कर्मवर्गणाएं खिंची चली आती हैं। योगात्मा और कषायात्मा कर्मबंध के कारण हैं।

सज्जनो ! कषाय प्रथम गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक रहता है। वास्तव में देखा जाय तो जीव का सब से बड़ा शत्रु कषाय ही है। यही जन्म मरण का प्रधान कारण है। शास्त्र कहता है—

कासेणा कसाया सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स।

अर्थात्—यह कषाय ही पुनर्भव के मूल को सीचते हैं, अर्थात् इन्हीं की बदौलत जीव को बार-बार जन्म-मरण के कष्ट भोगने पड़ते हैं।

कामः क्रोधश्च, लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्कराः।
ज्ञानरत्नापहारि, तस्माज्जागृत जागृत ॥

यह काम, क्रोध और लोभ आदि कषाय ऐसे चोर हैं जो इधर-उधर से आकर छापा नही मारते, वरन् तेरे शरीर के भीतर ही छिपे रहते हैं,और ज्ञान रूपी रत्न की चोरी करते हैं। अतएव हे आत्मा-हितैषी पुरुष ! तू जाग, जाग; अन्तर्दृष्टि से अपने अन्तरतर का अवलोकन कर और उन चोरों को हटा।

यह कषाय रूपी बैरी बड़ा प्रबल है। बड़ों-बड़ों को भी इसने नहीं छोड़ा। जो श्रुतसागर के पारगामी हैं, उन्हें भी अपने जाल में फंसा लेता है। जो समस्त कषायों को उपशान्त करके परमप्रशम अवस्था प्राप्त कर चुके हैं, यथाख्यात चरित्र के मधुर रस का आस्वादन कर चुके हैं और ग्यारहवे गुणस्थान जैसी उच्च श्रेणी पर जा पहुंचे हैं, उन्हें भी यह पापी कषाय घसीट कर नीचे पटक देता है।

दसवें गुणस्थान तक कषाय का उदय बना रहता है। ग्यारहवें गुणस्थान में उदय नहीं, पर सत्ता रहती हैं। बारहवे और तेरहवें गुणस्थान में कषाय की सत्ता भी नही रहती। फिर भी योग के कारण कर्म का बंध होता रहता है। चौदहवें गुणस्थान में जब योग का भी निरोध हो जाता है, तब कर्म बंध से पूरी तरह छुटकारा मिलता है।

शास्त्र मे चार प्रकार का जो वन्ध बतलाया गया है, उसमें प्रकृति-बंध और प्रदेश बध का कारण योग है और स्थितिबध तथा अनुभाग-बंध का कारण कषाय है। जब कषाय क्षीण हो जाते हैं तो कषाय-जनित बंध भी रुक जाता है और योग की विद्यमानता के कारण प्रदेश बध और प्रकृति बध ही होते हैं। उस समय बधे कर्म आत्मा के साथ ठहर नही सकते, बल्कि प्रथम समय में बधते हैं, दूसरे समय में भोगे जाते हैं और तीसरे समय मे निर्जीर्ण होकर हट जाते हैं। इस प्रकार तेरहवे गुणस्थान वाले के सिर पर टिकाऊ कर्ज नही चढता। वे साथ के साथ ही भुगतान करते जाते हैं।

कभी आपने देखा होगा कि पक्की सडक पर मिट्टी डाल कर रोलर फेरा जाता है। रोलर पर मिट्टी लग जाती है। परन्तु मशक लेकर एक आदमी पानी छिड़कता जाता है और साथ ही साथ उस मिट्टी को साफ करता जाता है। इसी प्रकार तेरहवें गुण-स्थान में बंधा होता है, उसी समय उदय होता है और साथ-साथ निर्जरा का पानी उसे साफ करता जाता है।

हां, तो निन्दक की योगात्मा और कषायात्मा निन्दा करते समय काम करती है। उसका मन निन्दा में भागीदार वनता है और प्रधान रूप से भाग लेता है। निन्दक का ध्यान अशुभ व्यापार मे लीन-सा हो जाता है। वह निंद्य के अभाव में कभी-कभी दाँत भी कटकटाता है। अतएव चाहे निंद्य पुरुष सामने नही है और निन्दा के कारण उसे दु:ख भी नही हो रहा है, फिर भी निन्दक पाप से नही बच सकता, उसे पाप कर्म का वन्ध होता ही है, क्योंकि उसके योगों में मलीनता आ गई है।

इसी प्रकार अरिहन्त भगवन्त भले ही परोक्ष मे हों, फिर भी उनका गुणगान करने से निर्जरा होती ही है। जब हमारे योग परोक्ष रूप से भी अर्हन्त के साथ जुडते हैं तो निर्जरा अवश्यंभावी है।

एक और उदाहरण लीजिये, मान लीजिये आप किसी उद्यान में बैठे हैं। नाना प्रकार के हरिताभ वृक्ष और लताएं आपके सम्मुख हैं। यद्यपि आंखों का वृक्षो और लताओ के साथ संयोग नही होता, फिर भी उन्हे दूर से ही देखने पर भी आंखों को शान्ति मिलती है।

भगवती सूत्र में प्रश्न किया गया है कि जीव कामी है या भोगी है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—जीव कामी भी है और भोगी भी है।

जीव का कामीपन और भोगीपन इन्द्रियाश्रित है। जीव का स्वरूप अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप का सवेदन करना है, परन्तु कर्मोदय के कारण उसे शुद्ध आनन्दस्वरूप की उपलब्धि नही होती, अतएव वह विकृतिमय सुख का, अर्थात इन्द्रिय-जन्य काम-भोग का सेवन करके सुख समझता है। अतएव वह कर्मोपाधि के कारण कामी-भोगी है।

पंचेन्द्रिय जीव ३ इन्द्रियों से भोगी और दो से कामी कहलाता है। स्पर्श, रस और गध भोग हैं, तथा रूप और शब्द काम कहलाते हैं। अतएव जीव आखो और कानो से कामी है। यह दोनो इन्द्रिया इच्छा—चाह उत्पन्न करती हैं। वढिया फिल्म का वर्णन सुन कर उसे देखने की चाह उत्पन्न होती है।

रावण ने सीता के रूप-सौंदर्य का वृत्तान्त सुना तो उसके मन में सीता को अपनाने की इच्छा हुई।

पद्मोत्तर राजा के रनवास मे अनेक सुन्दरिया थी, फिर भी नारद की नारदविद्या से वह फंस गया।

आज भी देश और समाज मे कई नारद हैं, जिनका काम झगडा कराना है। खटपट कराये बिना उन्हे चैन नही पडती। वे इस प्रकार की प्रवृत्तियां करके ही प्रसन्न होते हैं। इन नारदो की वात मैं नही कहता, परन्तु पुराणो के नारद जितेन्द्रिय होते हैं। यह एक जबर्दस्त

गुण उनके दूसरे दोषों को ढक देता है, क्योंकि एक बड़ा गुण अनेक दोषों को आच्छादित कर दिया करता है। विशेषतया ब्रह्मचर्य एक महान गुण है। उसमें समस्त दोषों को ढक देने की शक्ति है। रावण विद्वान, नीतिज्ञ, बलवान और प्रभावशाली राजा था। फिर भी अब्रह्म की भावना मात्र ने उसे खत्म कर दिया।

केतकी के कुसुम में कमनीय महक होती है। कवि उससे बातें करता है। कवि नदी, नाले और पहाड़ से भी बात करता है। कहावत है—'जहां न पहुंचे रवि वहाँ पहुंचे कवि।' कवि अनूठी कल्पनाओं के श्रृंगार से अपनी वाणी को सजाता है।

हां, तो कवि केतकी कुसुम से कहता है—हे केतकी कुसुम ! तू निकम्मा है, अस्पृश्य है। तेरी मूल अवस्था मे काटे हैं। तेरे निकट विषधर व्याल निवास करते हैं। कीचड़ से तेरी उत्पत्ति है। इस प्रकार तुझ में अनेकानेक दुर्गुण हैं, परन्तु एक सद्गुण है—सौरभ ; बस, वह सद्गुण ही तेरे सब दुगु णों को कल्पना से ओझल कर देता है।

तो आशय है कि मनुष्य मे यदि एक भी महान् और जबर्दस्त सद्गुण हो तो उसके सब दोष उससे छिप जाते हैं। नारद के विषय में भी यही सत्य है। सब जानते थे कि नारद भिड़न्त कराने में सिद्धहस्त हैं और इधर की उधर करते रहते हैं, फिर भी ब्रह्मचर्य की महत्ता के कारण लोग उनका आदर करते थे। बड़े-बड़े सम्राट् भी उनका सत्कार, सम्मान किया करते थे। अगर उनके सत्कार में तनिक भी खामी रह जाती तो उनके क्रोध का पारा चढ़ जाता था और भयंकर से भयकर बदला लेने में वह नही चूकते थे। ऐसे प्रसंग पर क्षमा किसे कहते हैं, यह वह नही जानते थे। बड़ी निर्दयता से पेश आते थे।

एक बार द्रौपदी अपने शृंगारभवन में शृंगार कर रही थी। अचानक नारदजी वहां जा पहुचे। उन्हें देखकर द्रौपदी ने अपना मुंह मोड़ लिया। उनका विचित्र रूप देखकर उसने कहा—चन्द्र के सामने यह राहु कहां से आ गया ?

द्रौपदी का यह वाक्य सुन कर बाबा जी बे-काबू हो गये। स्वभाव से ही चपल बन्दर ने मदिरा पी ली और फिर बिच्छू ने डंक मार दिया ! बाबा स्वभाव से क्रोधी, फिर उसका सत्कार नही किया गया, उसे प्रणाम नही किया गया और ऊपर से राहु कह दिया ! कुछ तो वैद्य गरम और कुछ गोलियां गरम।

नारद जी के चित्त पर द्रौपदी के वचन का असर हुआ। वचन का बड़ा महत्त्व है। वचन सुख का भी कारण बनता है और दुःख का भी कारण बन जाता है। वचन अमृत भी है और विष भी है। कहा है—

न तथा शशी न सलिलं, न चन्दनरसो न शीतला छाया।
आह्लादयन्ति पुरुषं, यथा हि मधुराक्षरा वाणी ॥
न तथा रिपुर्न शस्त्रं, न विषं न हि दारुणो महाव्याधि.।
उद्वेजयन्ति पुरुषं, यथा हि कटुकाक्षरा वाणी ॥

सज्जनो! वचन-वचन में कितना भेद है : मधुर वाणी से मनुष्य को बड़ी प्रसन्नता होती है आह्लाद होता है—इतना आह्लाद कि जितना चन्द्रमा को देख कर भी नही होता। मधुर वचन जल से भी अधिक शान्तिदायक होता है। चन्दन-लेप से भी अधिक शीतलता देता है। मीठी वाणी सुनकर मानव का अन्तःकरण खिल उठता है।

इसके विपरीत, जिस वाणी में कटुक अक्षरों का जहर मिला होता है, वह मनुष्य को इतना दुःखी बना देती है कि न पूछो बात। शत्रु, शस्त्र, विष और भयानक व्याधि से जितनी पीड़ा होती है,

उससे भी कही अधिक पीड़ा कर्कश—कठोर वचनों को सुन कर होती है।

अतएव मनुष्य को बहुत सोच-समझ कर वचन का प्रयोग करना चाहिए। कटुक, पोड़ाकारी और मर्मवेधी बात कभी जोभ से नही निकालनी चाहिए। अरे मनुष्य, तू अन्य कुछ दे सके या न दे सके, पर मधुर भाषण तो कर हा सकना है। उसमें तेरा क्या खर्च होता है।

वचने का दरिद्रता ?

मधुर वचनों का भंडार तेरे भीतर भरा है और वह ऐसा भडार है जो लुटा देने पर भी खाली नही हो सकता। फिर क्यों उसमें दरिद्रता दिखलाता है ?

कठोर वचन दूसरे को तो पीड़ा पहुचाते ही हैं, बोलने वाले को भी सकट में डाल देते हैं। द्रौपदी ने नारद जी को कठोर वाक्य कह दिया, पर उसका फल क्या हुआ ? पाण्डवो को भारी परेशान भोगनी पड़ी, कृष्ण जी को भी हैरान होना पड़ा और द्रौपदी स्वयं भी विकट सकट में पड़ गई।

नारदजी द्रौपदी के वाक्य-वाण से विंध गये। मन ही मन जल उठे। उन्होने निश्चय कर लिया—जब तक इस द्रौपदी रूपी चन्द्र को ग्रहण वन कर डस न लूंगा तव तक मैं चैन नही लूंगा।

नारद के पास विमान से उड़ने की विद्या थी। वह द्रौपदी के अभिमान को चूर-चूर करने का उपाय खोजने लगे। सोचने लगे—इसको अपने पांच पतियो का घमण्ड है, क्योंकि वे पाँचो अतीव बलवान् हैं। किन्तु उसे नही मालूम कि कभी सेर को सवा सेर मिल ही जाता है।

तो बाबा जी की एकमात्र चिन्ता अब यही थी कि द्रौपदी को उसके अहंकार का मजा चखाया जाय तो कैसे चखाया जाय ? इसी चिन्ता में वे लवण-समुद्र को पार करके धातकी खण्डद्वीप मे जा पहुँचे । वहा पद्मोत्तर नामक एक राजा कोई उत्सव मना रहा था ।

नारदजी जब पद्मोत्तर के राजमहल मे पहुचे तो उसकी सब रानियां उत्सव के उपलक्ष्य मे सजी हुई उपस्थित थी । सभी रानियाँ एक से एक बढ़ कर सुन्दर थी और अप्सराओं जैसी दिखाई देती थी । पद्मोत्तर उन्हे देख कर अद्भुत गौरव का अनुभव कर रहा था, वह अपने आपको अद्वितीय भाग्यशाली समझता था ।

नारद जी का यथोचित आदर-सत्कार करके और योग्य आसन पर आसीन करके पद्मोत्तर ने कहा—बाबा जी, आप देश-देश में परिभ्रमण करते हैं और राजाओ के अन्त.पुरो मे आप का अप्रतिहत प्रवेश है । कृपा कर क्या मेरे एक प्रश्न का उत्तर देगें ?

नारद—हा हां, क्यों नही ?

पद्मोत्तर—इस प्रकार का अन्तःपुर आपने अन्यत्र कही देखा है ?

नारद ने पहले कृत्रिम अट्टहास किया । फिर कहा—देखो राजन ! असत्य भाषण करने का मेरा स्वभाव नहीं; मगर सत्य कभी-कभी कटुक हो जाता है । सत्य कह दूँ तो अपना अपमान तो नहीं समझोगे ?

पद्मोत्तर—नही महाराज, आप फरमाइए ।

नारद—तो तुम्हारा अभिमान यह सूचित करता है कि तुम कूपमण्डूक हो । तुमने नारी के उच्चकोटि के सौन्दर्य को अभी देखा तक नही है । मै अभी-अभी एक ऐसी अद्वितीय सुन्दरी देख कर आ रहा हूं, जिसके अगूठे की बरावरी भी तुम्हारी यह रानियां नहीं कर सकती ।

बाबा को तो आग लगानी थी। द्रौपदी से बदला लेने की बात मन में थी ही, अच्छा अवसर मिल गया। द्रौपदी कुछ तो सुन्दर थी ही, बाबा ने अतिशयोक्ति करके, नमक-मिर्च लगा कर उसका ऐसा अनुपम शब्द-चित्र उपस्थित किया कि पद्मोत्तर का मन काबू में न रहा। वह द्रौपदी के सौन्दर्य को कल्पना के नेत्रों से साक्षात सा देखने लगा और चर्मचक्षुओं से देखने और उसका उपभोग करने के लिए व्याकुल हो उठा। उसकी कामवासना बलवती हो उठी। मोह के नशे में वह पागल हो गया।

सज्जनो ! आगम में बतलाया है कि चार कारणों से मैथुनसज्ञा उत्पन्न होती है—(१) कामोत्तेजक बातें सुनने से, (२) काम-सम्बन्धी चिन्तन करने से, (३) मोहनीय कर्म के उदय से, और (४) बल-वर्द्धक आहार करने से।

इस प्रकार जब पद्मोत्तर कामातुर हो गया तो उसने ईषत् लज्जा के साथ कहा—बाबा जी, क्या आपकी बात वास्तव मे तथ्यपूर्ण है ?

नारद—क्यों नही, चाहो तो मैं उस सुन्दरी का चित्र भी बतला सकता हूँ।

पद्मोत्तर—मैं उसे देखना चाहता हूँ।

बावा जी ने द्रौपदी का चित्र निकाल कर दिखला दिया। उस चित्र को देखकर मोह-उदय की प्रबलता से पद्मोत्तर और भी अधिक विह्वल हो उठा। नारद जी ने चित्र का पूरा परिचय दे दिया।

मोह की व्यथा सबसे अधिक उत्पीड़क होती है। उस व्यथा से ग्रसित प्राणी प्रतिक्षण दुस्सह व्याकुलता का अनुभव करता है। वह व्यथा पल भर भी शान्ति नही लेने देती। वह मनुष्य को पागल बना देती है। इसी पागलपन के वशीभूत होकर राजा पद्मोत्तर ने देवता की आराधना की। देवता आया और उसने स्मरण करने का कारण

पूछा। पद्मोत्तर ने अपनी अभिलाषा प्रकट करते हुये कहा—द्रौपदी को लाओ। उसके बिना मैं जीवित नही रह सकता।

देवता ने कहा—राजन ! द्रौपदी सती नारी है। सती अपने प्राण विसर्जन कर देती है, परन्तु सतीत्व का परित्याग नही कर सकती। अतएव अपनी अभिलाषा को जीतो। इसी में आपका कल्याण है। मैं उसे ला दूँगा तो भी आपकी मनोकामना पूर्ण नही होगी।

पद्मोत्तर—आगे की बात आगे देखी जायेगी। आप एक बार उसे ले आइये।

वचनवद्ध होने के कारण देवता द्रौपदी को उठा लाया। पद्मोत्तर ने द्रौपदी को रिझाने के लिये कोई उपाय शेष न रखा। उसने सभी प्रकार के प्रलोभन दिये। मगर द्रौपदी अपने शील पर अविचल रही। पद्मोत्तार का कोई भी प्रलोभन कामयाव न हुआ।

सच्ची सती कठिन से कठिन संकट आने पर भी अपने धर्म का परित्याग नही कर सकती। वह अपने धर्म को अपने जीवन से और अपने प्राणो से भी वढ़कर मानती है। कहा है—

> याद रखो, हिन्द नारी धर्म दे सकती नही,
> प्राण दे सकती मगर वह शर्म दे सकती नही।

द्रौपदी ऐसी ही सतियो में से थी। उसने स्वप्न मे भी किसी प्रलोभन की कामना न की और न पद्मोत्तर की चाहना ही की।

उधर अचानक द्रौपदी के गायव होने से तहलका मच गया। खोज चालू हुई। पाण्डवों और श्रीकृष्ण ने कोई प्रयास शेष न रखा, मगर कही द्रौपदी का पता न लगा। पता लगता भी कैसे ? वह कल्पना से भी परे की दूरी पर जा पहुँची थी। वीच मे दो लाख योजन विस्तृत लवण-समुद्र लहरा रहा था। भला कौन सोच सकता था कि वह धातकी खण्ड मे पहुँचा दी गई है।

बाबा नारद बडे प्रसन्न थे। उन्होंने द्रौपदी को उसकी उद्दण्डता का पूरा मज़ा चखा दिया था। कुतूहल की वत्ति से प्रेरित होकर और कुछ अधिक मज़ा लूटने के लिये वह कृष्ण जी के पास पहुँचे। कृष्ण जी को उस समय एक ही प्रधान चिन्ता थी—द्रौपदी को तलाश करने की। अतएव उन्होने नारद से पूछा—क्या आपने कही द्रौपदी को देखा है ? आश्चर्य है कि अब तक द्रौपदी का सुराग नही लग सका। समझ में नही आता, कैसे क्या हो गया !

नारद ने कहा—ठीक-ठीक तो नही कह सकता, पर धातकी-खण्ड द्वीप में राजा पद्मोत्तर के यहा द्रौपदी के समान एक सुन्दरी देखी अवश्य है।

कृष्ण समझ गये कि यह सब करामात इन बाबा की ही है।

कथा काफी लम्बी है और बोधप्रद भी है, परन्तु समयाभाव के कारण उस पर विशेष प्रकाश डालना शक्य नही है। नारद जी से पता पाकर कृष्ण धातकी-खण्ड द्वीप में पहुँचे। वहा उन्होने अपने विराट् पराक्रम का परिचय दिया और पद्मोत्तर को पराजित करके द्रौपदी का उद्धार किया और वापिस लौटे।

कृष्ण जी ने लौटते समय पाचजन्य शख का जो तुमुल नाद किया वह वहा के वासुदेव को भी सुनाई दिया। उसने तत्र विराजमान तीर्थंकर भगवान से उसके विषय में प्रश्न किया तो भगवान ने समग्र घटना उसे कह सुनाई। भगवान के मुखारविन्द से जम्बू द्वीप के वासुदेव श्रीकृष्ण का अपने द्वीप मे आगमन सुन कर वह तत्काल उनसे मिलने के लिये दौड़ा। किन्तु दो वासुदेवों का मिलन न कभी हुआ है, और न होगा। उसके आने से पूर्व ही कृष्ण जी रवाना हो चुके थे। वह केवल उनके रथ की ध्वजा फहरती हुई देख सका।

किन्तु राजा पद्मोत्तर की दुष्टता जानकर घातकी-खण्ड के वासुदेव के क्रोध का पार न रहा। उसी समय उसने आदेश देकर पद्मोत्तर को राज्य-च्युत कर दिया।

इस प्रकार कामवासना के फलस्वरूप पद्मोत्तर को राज्य से भ्रष्ट होना पड़ा और घोर अपकीर्ति का भाजन बनना पड़ा। यह वासना इतनी भयावह है कि संसार में जो बड़े-से-बड़े अनर्थ हैं, वे सब इसके प्रताप से मनुष्य को भोगने पड़ते हैं।

यहां प्रकरणवश एक प्रश्न पर विचार कर लेना उचित होगा। कई लोग यह आशंका किया करते हैं कि द्रौपदी पाँच पति वाली होने पर भी सती कैसे कहलाई ? लोक में दो पति वाली नारी भी भ्रष्ट समझी जाती है। ऐसी स्थिति मे द्रौपदी कैसे सती मानी जाय ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिये द्रौपदी के पूर्वभाव पर दृष्टि डालनी होगी।

द्रौपदी पिछले जन्म में सुकुमालिका नाम से एक सेठ की लड़की थी। पिता ने योग्य उम्र होने पर उसका विवाह किया। परन्तु पूर्वोपार्जित पाप के परिपाक से सुकुमालिका के शरीर में ऐसी उष्णता थीं कि पति को उसका स्पर्श मात्र दुःखदायक हुआ। उसके स्पर्श में बिच्छू के डक के समान उग्रता थी। उसका पति उसे सहन न कर सका। वह सुकुमालिका के पिता के यहीं घर जमाई बन कर आया था, पर उस स्पर्श को असह्य अनुभव करके चल दिया।

सुकुमालिका के जीव ने कई जन्म पहले धर्म-रुचि अनगार-साधु को कटुक तूंबे का आहार दिया था। धर्मरुचि अनगार उग्र तपस्वी थे और मासखमण की धारणा के लिए निकले थे। अर्थात् एक मास के तप के बाद वह नगर में भिक्षा के लिए गए थे।

सुकुमालिका उस जन्म में एक ब्राह्मणी थी। उसने भूल से कटुक तूंबे का शाक बना डाला। जब चखा तो पता चला कि यह अखाद्य और विषाक्त है। सयोग से मुनिराज उसके घर गोचरी भिक्षा के लिए जा पहुंचे। उसने पारिवारिक जनों के अपवाद से बचने के लिए सारा का सारा शाक उनके पात्र में उंडेल दिया। आखिर कीड़ियों की रक्षा की उच्च और दयामयी भावना से प्रेरित हो कर मुनिराज ने स्वय वह शाक अपने उदर में डाल लिया। मगर उसके प्रभाव से मुनिराज धर्मरुचि के प्राणो का अन्त हो गया।

कटुक तुम्बे का शाक देने वाली ब्राह्मणी को इस पाप का बड़ा ही कटुक फल भोगना पडा। अनेक जन्मो तक उसका पिण्ड न छूटा सुकुमालिका के रूप में भी वही पाप उसे सताता रहा। इसी पाप के कारण सुकुमालिका के शरीर में अति उष्णता थी, जिसके कारण उसका पति उसे छोड़ चुपके से ही चला गया। जब सुकुमालिका को उसका पति त्याग कर चला गया और किसी भी हालत मे लौट आने को तैयार न हुआ तब उसके पिता ने एक चलते भिखारी के साथ उसका विवाह किया। मगर वह भी सुकुमालिका के शरीर के स्पर्श को सहन न करने के कारण भाग गया। उसे भी उसके शरीर का स्पर्श बिछू के डंक सा लगा।

भिखारी को सेठ के समान बनाकर जमाता के रूप में रखने पर भी जब वह न टिका तो सुकुमालिका का पिता निराश हो गया। उसने सान्त्वना देते हुए कहा—बेटी, सन्तोष धारण करो। हम जन्म देने वाले हैं। सुख देने वाले नही। सुख-दुःख सब को अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही भोगना पड़ता है। तेरे भाग्य में पतिसुख नही है। अतएव उसकी इच्छा त्याग कर घर में रहो। दान धर्म आदि करो और शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करो।

सुकुमालिका भी इस तथ्य को समझ गई थी। अत वह दान-पुण्य करती हुई अपना समय बिताने लगी। एक वार एक साध्वी, गोचरी-भिक्षा के लिए उसके यहा पहुँची। सुकुमालिका ने उनसे कहा—कोई ऐसा उपाय वतलाइए जिससे मैं अपने पति को अपने प्रति अनुरक्त कर सकूं।

साध्वी ने यह वात सुनकर अपने कान दवा लिए और कहा—हमको इस प्रकार की वात सुनना भी नहीं कल्पता है।

सज्जनो! यह शास्त्र की कथा है। श्री ज्ञातासूत्र मे बहुत विस्तार के साथ यह कथा दी गई है।

हां, तो साध्वी संयमपरायण थी। उन्होंने सुकुमालिका की यह काम-कथा सुनने से इनकार कर दिया। जो काम-सवन्धी वात सुनेगा, उसके चित्त में विकृति आ सकती है। वह उसमें भाग भी लेने को उद्यत हो सकता है।

आज तो लोग धर्मस्थानको मे भी नाना प्रकार की विकथाएँ करते संकोच नही करते। परन्तु विकथाएँ करने को सारी दुनियाँ पड़ी है। दो घड़ी के लिए धर्मस्थानक में आते हो तो कम से कम उस समय तो उससे बचना ही चाहिए। धर्मस्थानक धर्म-कथा के लिए है, विकथा करने के लिए नही है। धर्म-स्थानक में अथवा सामायिक मे विकथा करना खीर मे नमक डालने के समान है।

कई लोग समझते हैं कि जितनी देर पाप-कथा की जाती है, उतनी ही देर तक उसका कुप्रभाव रहता है। परन्तु यह उनका बड़ा भ्रम है। उस पाप-कथा के सस्कार चित्त मे छा जाते हैं और वे अनजान रूप मे जीवन को अपने कुप्रभाव से प्रभावित करते रहते हैं। अतएव अल्प कालीन विकथा भी दीर्घ-कालीन प्रभाव रखती है। ऐसा समझ कर ही साधु-साध्वी विकथा से सदा दूर रहते हैं। मगर यह

साधु-साध्वियों के लिए ही आवश्यक नही है। आप भी उन्ही के पथ के अनुयायी हैं। अतएव आपको भी पापमय कथा से बचने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

तो सुकुमालिका को विकथा करने से रोक कर साध्वी जी ने कहा—अनादि काल से अब तक कामयोग भोगने पर भी जिस जीव को तृप्ति नही हुई, वह क्या इस एक जीवन मे भोग भोग कर सन्तुष्टि प्राप्त कर लेगा ? बहिन, यह अतृप्ति तो सदा ही रहने वाली है। अतएव इसे दूर करने का उपाय भोगो को भोगना नही, त्यागना है। कामभोगों से विमुख होकर जो जीव आत्मसाधना मे रत होता है, उसी को शान्ति मिलती है, वही सन्तोष के मधुर रस-का आस्वादनकर सकता है और वही अपने भविष्य को मगलमय बना सकता है।

वास्तव में कामभोग ही मनुष्य को सबसे अधिक दु:ख देने वाले हैं। किसी ने कहा है—

जो नर बचा विषयों के फद से, वह बडा होशियार है,
एक तो पैसा बचा, दूसरा तन में भी तैयार है।
जो नर फंसा विषयो के फद मे वह बड़ा लाचार है,
एक तो पैसा गया दूसरे बारह मास बीमार है।

कामभाग तन को निर्बल बनाते हैं, मन को निर्बल करते हैं, और धन का विनाश करते हैं। यह मानवीय शक्तियो के लिए राहु के समान हैं। कामभोगो की आग मे झुलसने वालो को क्षण भर भी शान्ति नही मिलती। उनकी समस्त जीवन-शक्ति नष्ट हो जाती है। आज के नवयुवक को देखते हैं तो दया आती है। वह दस मिनट भी भाषण नहीं कर सकता। चेहरा तेज-हीन, आँखें कमज़ोर, गाल पिचके हुए, और शरीर मुर्दे जैसा।

सुकुमालिका भी इस तथ्य को समझ गई थी। अतः वह दान-पुण्य करती हुई अपना समय बिताने लगी। एक बार एक साध्वी, गोचरी-भिक्षा के लिए उसके यहा पहुँची। सुकुमालिका ने उनसे कहा—कोई ऐसा उपाय बतलाइए जिससे मैं अपने पति को अपने प्रति अनुरक्त कर सकूं।

साध्वी ने यह बात सुनकर अपने कान दबा लिए और कहा—हमको इस प्रकार की बात सुनना भी नहीं कल्पता है।

सज्जनो! यह शास्त्र की कथा है। श्री ज्ञातासूत्र में बहुत विस्तार के साथ यह कथा दी गई है।

हा, तो साध्वी सयमपरायण थी। उन्होंने सुकुमालिका की यह काम-कथा सुनने से इनकार कर दिया। जो काम-सबन्धी बात सुनेगा, उसके चित्त मे विकृति आ सकती है। वह उसमें भाग भी लेने को उद्यत हो सकता है।

आज तो लोग धर्मस्थानकों में भी नाना प्रकार की विकथाएँ करते सकोच नही करते। परन्तु विकथाएँ करने को सारी दुनियाँ पडी है। दो घड़ी के लिए धर्मस्थानक में आते हो तो कम से कम उस समय तो उससे बचना ही चाहिए। धर्मस्थानक धर्म-कथा के लिए है, विकथा करने के लिए नही है। धर्म-स्थानक मे अथवा सामायिक मे विकथा करना खीर मे नमक डालने के समान है।

कई लोग समझते हैं कि जितनी देर पाप-कथा की जाती है, उतनी ही देर तक उसका कुप्रभाव रहता है। परन्तु यह उनका बड़ा भ्रम है। उस पाप-कथा के सस्कार चित्त मे छा जाते हैं और वे अनजान रूप मे जीवन को अपने कुप्रभाव से प्रभावित करते रहते हैं। अतएव अल्प कालीन विकथा भी दीर्घ-कालीन प्रभाव रखती है। ऐसा समझ कर ही साधु-साध्वी विकथा से सदा दूर रहते हैं। मगर यह

साधु-साध्वियो के लिए ही आवश्यक नही हैं। आप भी उन्ही के पथ के अनुयायी हैं। अतएव आपको भी पापमय कथा से बचने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

तो सुकुमालिका को विकथा करने से रोक कर साध्वी जी ने कहा—अनादि काल से अब तक कामयोग भोगने पर भी जिस जीव को तृप्ति नही हुई, वह क्या इस एक जीवन मे भोग भोग कर सन्तुष्टि प्राप्त कर लेगा ? बहिन, यह अतृप्ति तो सदा ही रहने वाली है। अतएव इसे दूर करने का उपाय भोगो को भोगना नही, त्यागना है। कामभोगों से विमुख होकर जो जीव आत्मसाधना मे रत होता है, उसी को शान्ति मिलती है, वही सन्तोष के मधुर रस-का आस्वादनकर सकता है और वही अपने भविष्य को मगलमय बना सकता है।

वास्तव में कामभोग ही मनुष्य को सबसे अधिक दुःख देने वाले हैं। किसी ने कहा है—

जो नर बचा विषयों के फंद से, वह बड़ा होशियार है,
एक तो पैसा बचा, दूसरा तन मे भी तैयार है।
जो नर फसा विषयो के फद मे वह बड़ा लाचार है,
एक तो पैसा गया दूसरे बारह मास बीमार है।

कामभाग तन को निर्बल बनाते हैं, मन को निर्बल करते हैं, और धन का विनाश करते हैं। यह मानवीय शक्तियों के लिए राहु के समान हैं। कामभोगो की आग मे झुलसने वालो को क्षण भर भी शान्ति नही मिलती। उनकी समस्त जीवन-शक्ति नष्ट हो जाती है। आज के नवयुवक को देखते हैं तो दया आती है। वह दस मिनट भी भाषण नही कर सकता। चेहरा तेज-हीन, आँखे कमज़ोर, गाल पिचके हुए, और शरीर मुर्दे जैसा।

भला यह भी कोई जीवन है ! किन्तु विलासिता का भाव जीवन में ऐसा ओतप्रोत-सा हो गया है कि उसने भयंकर परिणाम उत्पन्न कर दिये हैं ।

हाँ, तो साध्वीजी ने सुकुमालिका को कामभोगों की असारता और दारुणता समझा कर कहा—भोगों को भोग कर कोई जीव सुखी नहीं हो सका । सन्तोष नहीं पा सका । जानती हो, जुगलियों की आयु तीन पल्योपम की होती है । उन्हें न कोई बीमारी होती है, न बुढ़ापा आता है और न कोई मानसिक चिन्ता होती है । वे निश्चिन्त भाव से भोग भोगते रहते हैं, फिर भी नष्ट नहीं हो पाते । चक्रवती को ससार के सर्वोत्कृष्ट मानवीय भोग प्राप्त रहते हैं । फिर भी वह सदा के लिए तृप्तिलाभ नहीं कर सकता । ऐसी स्थिति में तुम क्या आशा करती हो कि इस अल्पकालीन जीवन मे भोग भोग कर सदा के लिए तृप्त हो जाओगी ? नहीं, ऐसा कदापि होने वाला नहीं । भोग भोगने से भोगाभिलाषा घटती नहीं, बढ़ती ही जाती है । इससे पिंड छुड़ाने का उपाय एक ही है और वह यह कि विवेकशील व्यक्ति भोगों को विष के समान समझ कर उन से विरत हो जाय ! अतएव तुम अपना हित चाहती हो तो भोग के वदले त्याग को अपनाओ । इसी में सुख है, इसी में जीवन की सार्थकता है ।

यद्यपि सुकुमालिका की वासना भरी नहीं थी, फिर भी उसने दीक्षा अंगीकार करने का निश्चय कर लिया । दीक्षा लेने के पश्चात् अर्थात् साध्वी वन जाने पर भी उसके पूर्व सस्कार फिर उभर आये । वह अड़ोस-पड़ोस के बच्चों को खेलाती और अपना मन बहलाती थी । कभी-कभी वह वच्चो के हाथ-पाँव को मेंहदी भी लगा दिया करती थी । इसके अतिरिक्त और भी अनेक कार्य ऐसे करती, जो साध्वी-आचार के अनुकूल नहीं थे ।

गुरुजी ने उसे बहुत बार समझाया। पहले मधुर शब्दों से और फिर उपालम्भ के स्वर में। मगर उसने अपना ढंग न बदला। यही नहीं, बार-बार टोकने के फलस्वरूप और स्वच्छन्द होकर रहने की इच्छा से वह गुरुजी को छोड़ कर अलग रहने लगी।

सुकुमालिका साध्वी शास्त्रीय नियम के विरुद्ध एक बगीचे में जाकर सूर्य की आतापना लेती थी। जैन शास्त्र कहता है कि साध्वी मकान में आतापना ले सकती है, खुले मैदान में नही। एक दिन उसने बगीचे में पाँच पुरुषों के साथ एक विलासिनी तरुणी को देखा। वे पाँचों पुरुष नाना प्रकार से उसके साथ विलास-चेष्टाएँ कर रहे थे। उस विलासिनी को देख कर सुकुमालिका ने सोचा—'धन्य है यह भाग्यशालिनी रमणी जो एक साथ पाँच-पाँच पुरुषों के साथ रमण करके अपने नारी जीवन को सफल बना रही है! एक मैं हूँ अभागिनी जिसे कोई भी पुरुष नही चाहता! अगर मेरी इस करणी का कुछ फल हो तो अगले जन्म में मुझे भी पाँच पति मिले।'

सुकुमालिका ने इस प्रकार का निदान कर लिया। उसने करोडों का माल कौड़ियों में बेच दिया। उस अभागिनी ने बहुमूल्य मोती आग में फेंक दिये!

आगामी भोगों की अकाक्षा से प्रेरित होकर की जाने वाली उग्र से उग्र धर्म-क्रिया भी ससार-भ्रमण का कारण होती है। निदान धर्म-करणी को मिट्टी कर देता है। सुकुमालिका की दुर्भावना ने उसकी तपश्चर्या को कलंकित कर दिया।

आयु का क्षय होने पर सुकुमालिका ने शरीर का त्याग किया और राजा द्रुपद के यहा द्रौपदी के रूप मे नया जन्म ग्रहण किया। स्वयंवर होने पर उस निदान के फलस्वरूप उसे पाँच पति मिले।

भला यह भी कोई जीवन है ! किन्तु विलासिता का भाव जीवन में ऐसा ओतप्रोत-सा हो गया है कि उसने भयंकर परिणाम उत्पन्न कर दिये हैं ।

हाँ, तो साध्वीजी ने सुकुमालिका को कामभोगों की असारता और दारुणता समझा कर कहा—भोगों को भोग कर कोई जीव सुखी नहीं हो सका । सन्तोष नही पा सका । जानती हो, जुगलियों की आयु तीन पल्योपम की होती है । उन्हें न कोई बीमारी होती है, न बुढ़ापा आता है और न कोई मानसिक चिन्ता होती है । वे निश्चिन्त भाव से भोग भोगते रहते हैं, फिर भी नष्ट नही हो पाते । चक्रवती को ससार के सर्वोत्कृष्ट मानवीय भोग प्राप्त रहते हैं । फिर भी वह सदा के लिए तृप्तिलाभ नही कर सकता । ऐसी स्थिति में तुम क्या आशा करती हो कि इस अल्पकालीन जीवन में भोग भोग कर सदा के लिए तृप्त हो जाओगी ? नही, ऐसा कदापि होने वाला नही । भोग भोगने से भोगाभिलाषा घटती नहीं, बढ़ती ही जाती है । इससे पिंड छुड़ाने का उपाय एक ही है और वह यह कि विवेकशील व्यक्ति भोगों को विष के समान समझ कर उन से विरत हो जाय ! अतएव तुम अपना हित चाहती हो तो भोग के बदले त्याग को अपनाओ । इसी में सुख है, इसी में जीवन की सार्थकता है ।

यद्यपि सुकुमालिका की वासना भरी नही थी, फिर भी उसने दीक्षा अंगीकार करने का निश्चय कर लिया । दीक्षा लेने के पश्चात् अर्थात् साध्वी बन जाने पर भी उसके पूर्व सस्कार फिर उभर आये । वह अडोस-पडोस के बच्चों को खेलाती और अपना मन बहलाती थी । कभी-कभी वह बच्चो के हाथ-पाँव को मेंहदी भी लगा दिया करती थी । इसके अतिरिक्त और भी अनेक कार्य ऐसे करती, जो साध्वी-आचार के अनुकूल नही थे ।

गुरुजी ने उसे बहुत बार समझाया। पहले मधुर शब्दों से और फिर उपालम्भ के स्वर में। मगर उसने अपना ढंग न बदला। यही नही, बार-बार टोकने के फलस्वरूप और स्वच्छन्द होकर रहने की इच्छा से वह गुरुजी को छोड़ कर अलग रहने लगी।

सुकुमालिका साध्वी शास्त्रीय नियम के विरुद्ध एक बगीचे में जाकर सूर्य की आतापना लेती थी। जैन शास्त्र कहता है कि साध्वी मकान में आतापना ले सकती है, खुले मैदान में नही। एक दिन उसने बगीचे में पाँच पुरुषो के साथ एक विलासिनी तरुणी को देखा। वे पाँचों पुरुष नाना प्रकार से उसके साथ विलास-चेष्टाएँ कर रहे थे। उस विलासिनी को देख कर सुकुमालिका ने सोचा—'धन्य है यह भाग्यशालिनी रमणी जो एक साथ पाँच-पाँच पुरुषों के साथ रमण करके अपने नारी जीवन को सफल बना रही है! एक मैं हूँ अभागिनी जिसे कोई भी पुरुष नही चाहता! अगर मेरी इस करणी का कुछ फल हो तो अगले जन्म में मुझे भी पाँच पति मिलें।'

सुकुमालिका ने इस प्रकार का निदान कर लिया। उसने करोडों का माल कौड़ियो में वेच दिया। उस अभागिनी ने बहुमूल्य मोती आग में फैंक दिये!

आगामी भोगो की अकांक्षा से प्रेरित होकर की जाने वाली उग्र से उग्र धर्म-क्रिया भी ससार-भ्रमण का कारण होती है। निदान धर्म-करणी को मिट्टी कर देता है। सुकुमालिका की दुर्भावना ने उसकी तपश्चर्या को कलंकित कर दिया।

आयु का क्षय होने पर सुकुमालिका ने शरीर का त्याग किया और राजा द्रुपद के यहां द्रौपदी के रूप मे नया जन्म ग्रहण किया। स्वयंवर होने पर उस निदान के फलस्वरूप उसे पाँच पति मिले।

मगर स्मरण रखना चाहिए कि द्रौपदी पचभर्तारी होने के कारण सती नही कहलाई, मगर परपुरुष को स्वप्न में भी कामना न करने के कारण उसे सतीत्व का गौरव प्राप्त हुआ। पद्मोत्तर के यहा जा कर और अनेक कष्ट सहन करने पर भी वह अपने पतिव्रत धर्म पर अटल रही। यह सतीत्व का लक्षण नही तो क्या है ?

तो सुकुमालिका ने साध्वी के वेष मे रहकर पाँच पुरुषो को और उस विलासिनी को देखा मात्र था, फिर भी भावना के दोप से उसने पाप का वन्ध कर लिया। इससे स्पष्ट है कि कोई वस्तु भोग मे आवे अथवा न आवे, सामने हो अथवा न हो, फिर भी मनोभावना के अनुरूप कर्मवन्ध हो ही जाता है। इसी प्रकार भगवान अरिहन्त भले सामने न हो, फिर भी जव हमारा योग उसके साथ जुड़ जाता है तो कर्मो की निर्जरा अवश्य होती है।

आप को शायद विदित हो कि चक्षु और मन अशुद्ध (अस्पृष्य) हैं। अर्थात् यह दोनों करण अपने-अपने विषय का स्पर्श किये विना ही उसे ग्रहण कर लेते हैं। कोमल और कठोर आदि स्पर्शो का ज्ञान तव होता है जव स्पर्शेन्द्रिय के साथ उनका सयोग हो। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय के साथ ससर्ग होने पर ही रस का ज्ञान होता है। घ्राणेन्द्रिय के साथ सुगंध के प्रद्गलों का और कान के साथ भाषा वाणी के प्रद्गलो का जव सम्पर्क होता है तभी गंध और शव्द का ज्ञान होता है। अतएव यह चारो इन्द्रिया प्राप्तकारी कहलाती हैं। परन्तु आख की वात निराली है। वह रूप के साथ सयोग हुए विना ही, दूर से ही रूप को जान लेती है। मन भी इसी प्रकार अप्राप्यकारी है। दूरवर्ती सव्जी को देखने से भी आंख को शान्ति मिलती है। हरियाली आंखों का भोग है और आवश्यक नही कि उसका आंखों के साथ सयोग हो। दूर से भी हम उससे लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर और सीमन्धर स्वामी

हमसे दूर हैं, फिर भी हम उपासना करके, ध्यान करके और स्तुति करके उनसे लाभ उठा ही सकते हैं।

जब हमारे योग अन्य ओर से हट कर भगवान् के विशुद्ध स्वरूप में रम जाते हैं, लीन हो जाते हैं, तब हमें अपूर्व निर्जरा का लाभ होता है।

हरियाली साकार है और आंखें भी साकार हैं। साकार से साकार का ग्रहण होता है। प्रभु निराकार है और उनके गुण भी निराकार हैं, अतएव उनका ग्रहण निराकार भावना से ही हो सकता है।

इस प्रकार वस्तुस्वरूप को समझ कर अपनी आन्तरिक चेतना से जो अरिहन्त भगवान् का निराकार स्वरूप समझ कर उपासना करेंगे, वे संसार-समुद्र से तिरेंगे।

राजकोट,
२-८-५४]

: ३ :

आत्मा—विभिन्न दर्शनों में

वोर सवसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा सश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ।।

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायका ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्नत्रयाराधका,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ।।

धर्मप्रेमी सज्जनो तथा वहिनो!

प्रवचन का विषय आत्मा है। कई दिनों से आत्मा के विषय में रहा हूँ, परन्तु आज भी ऐसा प्रतीत होता है कि जो कुछ कहा गया है वह शेष की अपेक्षा नही के बराबर है। यह विषय इतना व्यापक है कि कही और छोर ही दिखाई नही देता। यह कब और कहाँ जाकर समाप्त होगा, मालूम नही। असल बात तो यह है कि सभी विषयों का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। सभी विषय आत्मा के साथ जुड़े हुए हैं।

मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ, परम और चरम ध्येय आत्मा की उपलब्धि करना ही है। इसी कारण ज्ञानी जनों ने इस बात पर

बहुत बल दिया है कि आत्मा के स्वरूप को ठीक-ठीक समझ लो, अगर आत्मा को यथार्थ रूप से समझ लिया जाय तो पुण्य-पाप स्वर्ग-नरक और धर्म-अधर्म स्वतः समझ मे आजाएँगे। आत्मा का सद्भाव होने से ही इन सब का सद्भाव है। आत्मा की सत्ता न मानी जाए तो इनमें से किसी की भी सत्ता नही टिक सकती।

लोग कहते हैं कि आत्मा को सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, यह कथन किसी दृष्टि से ठीक हो सकता है। जगत् में जो चेतनव्यापार दिखाई दे रहे हैं, उनसे इनकार करने का साहस कौन कर सकता है? किसी विशिष्ट प्रयोजन को सम्मुख रख कर मनुष्य पशु पक्षी आदि की जो प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, वह जड़ मे सभव नही है। यह सब बाते प्रत्यक्ष देखते हुए, जिनसे किसी चेतनवान् का अस्तित्व प्रमाणित होता है, कौन कह सकता है कि आत्मा नही है? जो ऐसा कहता है, समझना चाहिए कि वह जानबूझ कर सत्य का अपलाप कर रहा है। वह आत्मवचना कर रहा है, और साथ ही दूसरो को भी धोखा दे रहा है।

फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि आत्मा के संबंध में विभिन्न दर्शनकारों मे पर्याप्त मतभेद हैं। मगर यदि हम आत्म-विषयक मतैक्य के मुद्दो पर और मतभेद के मुद्दों पर विचार करे तो आस्तिक दर्शनो में मतैक्य के मुद्दे ही अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होगे, यद्यपि उनके ब्योरो मे भी किंचित मतभेद पाया जा सकता है। यहा हम विस्तार से विभिन्न दर्शनो की आत्मा-सम्बन्धी मान्यताओं मे नही उतरना चाहते, तथापि कुछ ऐसी बातो का निर्देश करना चाहते हैं जो आत्मा के विषय मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और जिनमें विभिन्न दर्शन एकमत जान पडते हैं।

सबसे पहले हम आत्मा के असाधारण और मुख्य धर्मचेतना ही को लेते हैं। चेतना आत्मा का गुण है और उसी के द्वारा वह

विषयो को जानता है। चेतना आत्मा के अतिरिक्त जड़ पदार्थों मे नही पाई जाती। इस मान्यता में जन, सांख्य, न्याय, वेशेषिक, वेदान्त, बौद्ध आदि दर्शन एकमत हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, इस मान्यता के ब्यौरे में अन्तर हो सकता है, और है भी, तथापि इसका आधारभूत सिद्धान्त सभी को स्वीकृत है।

सभी आस्तिक दर्शन आत्मा का पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं, आत्मा ही पुण्य-पाप रूप क्रियाओ के परिणामस्वरूप सुख-दुःख का अनुभव करता है, यह भी सब को मान्य है। सस्कारों का आधार आत्मा है, इसमे प्रायः किसी को विवाद नही है।

इस प्रकार आत्मा के विषय में मूलभूत जो बातें हैं, उन्हे सभी स्वीकार करते हैं।

आत्मा का आकार क्या है? वह अणुपरिमाण है, अगुष्ठ प्रमाण है, शरीर प्रमाण है, या सर्वव्यापक है? इस सम्बन्ध मे दर्शनो के मत भिन्न-भिन्न हैं।

आत्मा समग्र विश्व मे एक ही है, अथवा प्रत्येक शरीर मे अलग-अलग है, यह भी मतभेद का विषय है। मगर इसे संख्या-विषयक मतभेद कहना उचित होगा, आत्म-विषयक मतभेद कहना उतना उचित नही।

जहा तक जैन सिद्धांत का सम्बन्ध है, आत्मा शरीर परिमाण है और प्रत्येक शरीर में उसकी पृथक्-पृथक् सत्ता है। जैन ग्रथो मे इस विषय पर विस्तृत और गहन चिन्तन किया गया है।

जहा जिस पदार्थ के गुण दिखाई देते हैं या अनुभव मे आते हैं, वही उस पदार्थ की सत्ता मानी जाती है। आपको घड़े की आकृति आदि गुण एक खास जगह पर दिखाई देते हैं, तो उसी जगह पर

आप घड़े का होना समझते हैं, अन्य जगह पर नही। यह एक व्यवहार में आने वाली बात है। इसी सत्य के आधार पर आप और हम सभी लोग वस्तुओं का कही होना अथवा न होना मानते हैं। तो आत्मा के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए, अर्थात जहां आत्मा के गुण अनुभव में आते हो, वहां उसका अस्तित्व मानना चाहिए, अन्यत्र नही।

इस सिद्धांत को आधार बना कर हम देखते हैं तो शरीर के अंदर ही आत्मा के चेतना, सुख, दुःख आदि गुण प्रतीत होते हैं, शरीर के बाहर नही। कोई आदमी शरीर के बाहर खाली आकाश में, जहां हमारा शरीर नही है, सुई चूभाता है तो हमें वेदना का अनुभव नही होता। इससे प्रतीत होता है कि आत्मा शरीर के बाहर नही है।। परन्तु शरीर के किसी भी भाग में सुई चुभाने से वेदना होती है। पैर में चुभने से भी दुःख होता है, पीठ मे चुभने से भी दर्द होता है और सिर में चुभने से भी पीडा होती है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग में है, किसी एक ही भाग में नही है। इस प्रकार जब आत्मा के चैतन्य गुण की अनुभूति शरीर में सर्वत्र ही होती है तो मानना चाहिये कि आत्मा शरीर-व्यापी है और पूर्वोक्त न्याय से शरीर से बाहर नही है।

वास्तव में आत्मा असख्य प्रदेशों का अखंड पिंड है। उन प्रदेशों में दीपक के प्रकाश की तरह संकोच-विस्तार का गुण है। अतएव नामकर्म के उदय से जैसे छोटे या बडे शरीर को प्राप्ति होती है, वे आत्म प्रदेश उसी के अनुसार संकुचित या विस्तृत होकर उस शरीर मे समा जाते हैं। जब कीड़ी का जीव मर कर हाथी के रूप में उत्पन्न होता है तो आत्म-प्रदेश फैल जाते हैं और हाथी मर कर कीड़ी के शरीर मे जन्म लेता है तो आत्म-प्रदेश सिकुड़ जाते हैं।

हां, सकुचित और विस्तृत ही होते हैं, कम-ज्यादा नहीं होते। इसी कारण जैन सिद्धात में आत्मा शरीर परिमाण स्वीकार किया गया है।

कुछ लोग आत्मा को आकाश की तरह सर्वव्यापी मानते हैं, पर ऐसा मानने में अनेक दोष हैं। व्यापक होने के कारण आत्मा स्वर्ग, नरक आदि सभी जगहों में एक साथ रहेगा तो स्वर्ग के सुख और नरक के दुःख एक साथ भोगने का प्रसग उपस्थित होगा, जिससे बड़ी अव्यवस्था हो जाएगी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक आत्मा संसार के सभी प्राणियों के शरीर में व्याप्त माननी पड़ेगी। परिणाम यह होगा कि एक के सुख से सभी को सुख प्राप्त होगा और एक के दुःख से सभी को दु ख प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में सुख और दुःख दोनो एक साथ भोगने पड़ेगे। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के अपने किये हुये शुभाशुभ कर्म व्यर्थ हो जाएँगे। जब एक आत्मा दूसरे के पुण्य से सुखी वन सकता है और दूसरे के पाप से दुःखी बन सकता है तो फिर उसका अपना पुण्य-पाप क्या काम आएगा ? फिर तो गुरुजी जो धर्माचरण करते हैं, उसी से सब चेले स्वर्ग—मोक्ष पा लेगे। इस अव्यवस्था से बचने के लिये आत्मा को व्यापक न मान कर शरीर-परिमित मानना ही उपयुक्त है।

इसी प्रकार अगर शरीर में सर्वत्र व्यापक न मान कर आत्मा को अणु के वरावर, शरीर के एक हिस्से में माने तो भी दोष प्रतीत होता है। समग्र शरीर में वेदना की अनुभूति होती है, यह स्वानुभव सिद्ध है। अगर आत्मा अणु-परिमाण हो तो वह सारे शरीर में व्याप्त नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में शरीर का अधिकाश भाग चेतनाहीन ही रहेगा। न उसमे सुख-दु ख की अनुभूति होगी और न उसकी वृद्धि ही होगी, क्योकि अचेतन का स्वभाव नहीं कि वह

सुख-दुःख का अनुभव कर सके। वह अपने आप बढ़ता भी नहीं है। पौधा जब तक सजीव होता है तब तक बढ़ता है। उखाड़ दिये जाने पर उसकी वृद्धि रुक जाती है। चेतनाहीन शरीर के उस भाग की यही हालत हो जानी चाहिए।

शका हो सकती है कि अगर आत्मा शरीर-मात्र व्यापक है तो तलवार आदि से शरीर के किसी अवयव को काट देने पर क्या आत्मा भी कट जाता है ? क्या एक आत्मा के दो आत्मा हो जाते हैं ? घर में घूमने वाली छिपकली की जब किवाड़ में दब जाने से या किसी अन्य प्रकार से पूँछ कट जाती है तो छिपकली जीवित रहती है वह चलती-फिरती नजर आती है। इसी प्रकार उसकी पूछ भी जो कट गई है कुछ समय तक फड़फड़ाती रहती है। तब ऐसा जान पड़ता है कि उसके दोनों विभागों में चेतना है। ऐसी स्थिति में क्या एक आत्मा के दो रूप हो जाते हैं ?

जैन सिद्धातानुसार इस प्रश्न का उत्तर यह है—आत्मा एक अखड द्रव्य है। उसे न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी गला सकता है। इस ससार मे आत्मा के लिए कोई शस्त्र ही नहीं है। जितने भी शस्त्र हैं, चाहे वह तलवार हो, बन्दूक हो, तोप हो, बम हो, अणु बम या उदजन बम हो, सब भौतिक हैं, रूपी हैं। इन शस्त्रों का असर शरीर आदि भौतिक पदार्थों पर ही हो सकता है। अरूपी, अनाकार, चैतन्यस्वरूप आत्मा तक किसी भी पौद्गलिक शस्त्र की पहुँच नहीं हो सकती। अतएव यह समझना कि तलवार से आत्मा के टुकड़े हो जाते हैं, एक बड़ा भ्रम है। आत्मा के कभी टुकड़े हुए नही, होते नही और होगे भी नहीं। जैसे आकाश को तलवार नहीं काट सकती, उसी प्रकार आत्मा को भी नही काट सकती।

प्रश्न हो सकता है कि अगर आत्मा कट नहीं सकती तो छिपकली के शरीर के दो पृथक्-पृथक् भागों में आत्मा के चिन्ह कैसे दिखाई देते हैं ?

इसका उत्तर यह है कि अमूर्त होने के कारण आत्मा की प्रतीति स्थूल शरीर द्वारा ही होती है। जहां स्थूल शरीर नहो है वहां आत्मा होते हुए भी हमारी दृष्टि में नहीं आती। जब छिपकली की पूंछ उसके शेष शरीर से पृथक हो जाती है, तब आत्मा के कतिपय प्रदेश उस पूंछ में भी स्थित होते हैं, परन्तु ऐसा समझना भ्रम है कि वे प्रदेश अन्य प्रदेशों से पृथक् हो गए हैं। छिपकली और उसकी पूंछ के बीच में भी आत्मा के प्रदेश होते हैं और वे आत्मा को अखंडित एवं अपृथक् बनाये रहते हैं। किंचित काल के पश्चात् वे कटी हुई पूंछ के प्रदेश भी निकल कर छिपकली के शरीर में ही आ जाते हैं और इसका प्रमाण यही है कि थोड़ी देर की फड़फड़ाहट के पश्चात् पूंछ स्तब्ध हो जाती है। फिर उसमें चेतना का कोई भी चिन्ह दिखाई नहीं देता। अगर एक आत्मा दो आत्मा बन गए होते तो छिपकली की तरह उसकी पूंछ भी जिंदी रहनी चाहिए। मगर वह जिंदा रहता नहीं है। इससे यही प्रतीत होता है कि आत्मा अपने मूल भाग के साथ जाकर मिल गई है।

अभिप्राय यह है कि शरीर के कटने से आत्मा का कटना जो माना जाता है, वह भ्रम है और उस भ्रम का कारण हमारी स्थूल बुद्धि है। चर्म-चक्षु छिपकली के दोनों भागों के बीच मे व्यापक अमूर्त-आत्मप्रदेशो को नही देख सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि न तो आत्मा कटती है और न एक आत्मा के दो आत्मा बनते हैं। आत्मा अजर, अमर, अविनाशी तत्त्व है। अतएव शरीर-परिमाण मानने में कोई बाधा नही है।

कई लोग कहा करते हैं कि आत्मा को अगर शरीर के बराबर मानें तो बालक का शरीर छोटा होता है। अवस्था के साथ-साथ वह बढ़ता जाता है, तो क्या आत्मा भी बढ़ता जाता है ?

इसका उत्तर पहले आ चुका है। आत्मा संकोच-विस्तार स्वभाव वाला है। अतएव ज्यों-ज्यों शरीर का विस्तार होता है, त्यों-त्यों आत्मा के प्रदेश भी विस्तृत होते चले जाते हैं। इस प्रकार आत्मा के प्रदेश न घटते हैं और न बढ़ते हैं। वे उतने के उतने ही रहते हैं, सिर्फ विस्तृत हो जाते हैं।

संख्या के संबंध में जैन-धर्म की मान्यता है कि आत्मा द्रव्यतः अनन्त है। जैन-धर्म वेदान्त की तरह एक ही आत्मा स्वीकार नही करता। आत्मा का एकत्व मानने में अनेक दोष आते हैं। प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक जीव जन्म लेता है और दूसरा उसी समय मरता है। यदि एकान्तत. एक ही आत्मा माना जाय तो यह भिन्नता क्यों हो ? एक मानने पर तो एक जीव के मरने पर सब को मर जाना चाहिए और एक के जन्म लेने पर सब का जन्म होना चाहिए।

अगर आत्माएँ पृथक्-पृथक् अनेक न मानी जाएँ तो वन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो जाएगी और पाप-पुण्य की व्यवस्था भी समाप्त हो जायेगी। एक ही आत्मा है तो एक की मुक्ति और दूसरो का भव-भ्रमण कैसे होगा ? कोई पाप के उदय से दुःखी देखा जाता है और कोई पुण्य के उदय से सुखी दिखाई देता है। यह भेद क्यो है ?

कोई-कोई बड़ा बुद्धिमान और प्रतिभाशाली होता है, तथा कोई मूढ़ चेतन और मन्दबुद्धि। एक ऐसा कि इशारे से ही सब कुछ समझ लेता है और दूसरा बहुत-बहुत माथा-पच्ची करने पर भी खाक नही समझ पाता। इस प्रकार ज्ञान और बुद्धि मे जो अन्तर दृष्टिगोचर

होता है, वह पूर्व-कालीन संस्कारों की विभिन्नता के विना सभव नहीं है, और सस्कारों का भेद आत्माओ के भेद के विना नही होता। इस प्रकार जब विचार किया जाता है तब साफ मालूम होता है कि समग्र विश्व में एक आत्मा मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

आत्माओं को अनेक मान कर भी जब तक अनन्त नही माना जाय, तब तक काम नही चल सकता। अनादि काल से आज तक जीव मोक्ष मे जा रहे है और जो एक बार मोक्ष में चले जाते हैं, वे कभी वापिस लौट कर नही आते। ऐसी स्थिति में जीवो की सख्या अगर अनन्त न होती तो ससार कभी का खाली हो गया होता।

इस प्रकार जीव का अस्तित्व प्राय सर्वमान्य होने पर भी उसके व्यौरे को बातों में काफी मतभेद है। किन्तु मतभेद तो दुनियां में होता ही है। 'मुण्ड मुण्ड मतिर्भिन्ना' यह कहावत प्रसिद्ध ही है। परन्तु जिस वस्तु के सबध में मतभेद हो उसका अस्तित्व ही निश्चित नही है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। मतभेदो पर विचार करके जो युक्तिसगत बात हो, उसे स्वीकार करना चाहिए। जहा युक्ति का प्रवेश न हो वहाँ सर्वज्ञ और वीतराग के वचनो पर पूर्ण श्रद्धा रखना ही उचित है। सर्वज्ञ की वाणी कभी अन्यथा नही हो सकती है। अतएव उस पर श्रद्धा रखकर चलने मे किसी भी प्रकार की हानि नही, वरन् लाभ ही है।

सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा के स्वरूप को यथावत् जाना है। अन्य ऋषियो ने भी इस विषय में गति और प्रगति की। पर आप जानते हैं कि यह सफर लम्बा है। कोई चार मील चल कर थक गये, कोई छः मील चल कर थक गये, अर्थात् उनकी बुद्धि हार मान गई। सब ने अपनी-अपनी विचार-शक्ति के अनुसार समझने का प्रयत्न किया और जैसा उनकी समझ में आया, वैसा कहा। पर जो विषय बुद्धि से

अगम्य हो, उन पर हर एक व्यक्ति ठीक ठीक विचार नही कर सकता। बुद्धि को क्षमता सीमित है, उसकी दौड परिमित दूरी तक ही होती है।

शास्त्र मे बुद्धि चार प्रकार की बतलाई गई है। यद्यपि व्यक्ति व्यक्ति की बुद्धि में भिन्नता नजर आती है फिर भी सब का समावेश चार प्रकार की बुद्धि में ही हो जाता है। वह चार भेद इस प्रकार हैं—(१) औत्पत्तिकी (२) वैनयिकी (३) कार्मिकी, और (४) पारिणामिकी।

पहले से नहीं सोचे-समझे विषय मे भी अकस्मात् सूझ उत्पन्न हो जाना औत्पत्तिकी बुद्धि है।

गुरु की विनय सेवा आदि करने से जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह वैनयिकी कहलाती है।

कार्य करते करते अभ्यास से उत्पन्न होने वाली बुद्धि कार्मिकी है।

उम्र के परिपाक के साथ बुद्धि का जो स्वाभाविक विकास होता है, वह पारिणामिकी बुद्धि कहलाती है।

इन चार के अतिरिक्त पाँचवी कोई बुद्धि नही है। अगर इनमें से किसी भी बुद्धि का अच्छा विकास हुआ हो और वह सम्यक्त्व से युक्त हो तो मतिज्ञान से भी बहुत कुछ जाना जा सकता है।

अगर श्रुतज्ञान सच्चा और पूर्ण हो तो ऐसा श्रुतज्ञानी श्रुत-केवली कहलाता है। श्रुतकेवली चौदह पूर्वों का ज्ञाता होता है। उपभोग-पूर्वक बोले गये श्रुत-केवली के वचन में और केवलज्ञानी के वचन मे कुछ अन्तर नही होता।

प्रकार के जीव हैं, सब जीव-राशि के ही अन्तर्गत हैं। जीव के अतिरिक्त जो जड तत्त्व हैं वे सब अजीव-राशि मे हैं।

तत्त्व की दृष्टि से विचारण करते हैं तो आस्रव, सवर, पुण्य, पाप और बध अजीव-राशि में हैं, क्योकि यह सब पुद्गलरूप हैं। निर्जरा भी पुद्गलो की होती है और मोक्ष भी पुद्गलो से छूटना ही है। अगर आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष के द्रव्य-भाव से दो-दो भेद करके विचार करे तो द्रव्य रूप से ये सब पुद्गल मे और भाव रूप से जीव के अन्तर्गत होंगे। जीव के जिन परिणामों से आस्रव बंध आदि होते हैं, वे परिणाम-जीव के ही अतर्गत हैं।

पुद्गल, मैटर, माया, मादा, यह सब पुद्गल के ही पर्यायवाचक नाम हैं। जो पलटता है वह पुद्गल है। सडन-पडन-विध्वसन स्वभाव पुद्गल का है।

जीव अपना काम चलाने के लिये, अपने पोषण के लिए जो ग्रहण करते हैं, वे योगसा पुद्गल हैं। पुद्गल की ही यह कृपा है कि जीव ससार मे भटक रहा है, और मोक्ष नही पा रहा है। पुद्गल के प्रभाव से जीव का अपना विशुद्ध स्वरूप उपलब्ध नही होता। वह अपने अमूर्त्त भाव का नही पा सका है।

योगों के द्वारा जीव, पुद्गलो को खीचता है और प्रति समय खीचता ही रहता है, पुद्गलो का सग्रह करता है और पूर्वगृहीत पुद्गलो को भोगता रहता है। पूर्वगृहीत कर्म पुद्गल समय पर—स्थिति का परिपाक होने पर—अपना सुख-दु:ख रूप असर दिखलाते हैं।

सारा ससार पुद्गलों से परिपूर्ण है। जैसे काजल की डिबिया मे सर्वत्र काजल भरा रहता है, उसी प्रकार सारे संसार में पुद्गल भरे हैं। पानी मे कोई डुबकी लगाता है तो उसके सब ओर पानी ही

पानी होता है, इसी तरह लोक में जीव के हर तरफ पुद्गल हैं। हम पुदगलों में डूब रहे हैं। खाने-पीने मे काम आने वाली वस्तुएँ, कर्म, व्यवसाय, लेश्या आदि सब पुद्गलचंद की छावनी है। किसी भी तरफ से अछूता निकलना सम्भव नही है।

इसका आशय यह न समझिए कि कभी कोई जीव पुद्गलो के असर से छूट ही नही सकता। जिस आत्मा मे जागृति आ जाती है और जो अपने स्वरूप को समझ लेता है, वह पुद्गल के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। अनन्त जीव पुद्गल के असर से छूट चुके हैं और भविष्य में छूटेंगे। परन्तु यह छुटकारा होता तभी है जब जीव अपनी शक्ति को समझ लेता है, अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान लेता है और पुद्गलों के ससर्ग से होने वाली अपनी दुरवस्था को समझ लेता है।

जीव को समझना चाहिए कि पुद्गलो ने मेरे स्वरूप को मलीन कर दिया है। मेरी स्वाधीनता को छीन लिया है। यह मेरे लिए किसी भी अवस्था मे हितकर—सुखकर नही हैं। इनके साथ मेरा कोई सादृश्य नही है। यह सब जड़ और मैं चैतन्य हूँ। जड़ चेतन पर आधिपत्य करे, यह मेरे लिए लज्जा की बात है।

जीव को जब इस प्रकार का मान हो जाता है और वह आत्म-भाव में केन्द्रित हो जाता है, तब उसमे इतना सामर्थ्य आ जाता है कि वह मोह की फौज को छिन्न-भिन्न कर डालता है।

इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए राजनैतिक कौशल की आवश्यकता नही, वरन् धर्मतत्त्व को ठीक तरह समझने की ही आवश्यकता है। राजनीति अनेक प्रकार के छल-छिद्रो से पूर्ण होती है। भर्तृहरि ने तीन ग्रथ लिखे हैं—शृंगार-शतक, नीति-शतक और

यों तो मति-अज्ञानी भी आत्मा को समझने का प्रयत्न करता है पर वह ठीक तरह से समझ नहीं सकता। सभी मत-मतान्तरों ने आत्मा के विषय में विचार किया है, परन्तु वे सही और अन्तिम निर्णय पर नही पहुँचे। जिसने सिर्फ राजकोट ही देखा है, वह बम्बई और कलकत्ता का वर्णन नही कर सकता।

तो आत्मा को मान कर भी किसी ने कैसा ही मान लिया तो किसी ने कैसा ही। एक ने कहा आत्मा पचभूतात्मक है तो दूसरे ने कहा पट्-भूतात्मक है, अर्थात् आत्मा छठा भूत है। किसी ने १७ तत्वरूप माना। किसी ने आत्मा को स्वतंत्र सत्ता मान कर भी कहा कि आत्मा कूटस्थ नित्य है, सर्वथा अपरिणामी है। उसमें अवस्था-भेद भी नहीं होता। यह साख्यदर्शन की मान्यता है। मगर उसने यह नही सोचा कि अगर आत्मा एकान्त रूप से अपरिणामी है तो उसका जन्म-मरण कैसे होता है ? आवागमन कैसे होता है? जन्म-मरण आदि परिणामी मानने पर ही घटित होते हैं।

साँख्य दर्शन के ठीक विपरीत बौद्ध दर्शन है जो क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली चित्त-सन्तान को ही आत्मा कहता है। मगर क्षणिकवाद मे भी कोई औचित्य प्रतीत नही होता। बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप के फल का उपभोग आदि कोई भी व्यवस्था इस मत में नही हो सकती। कर्म बाधने वाला व्यक्ति कर्म बाधने के साथ ही नष्ट हो जाय तो उसका फल कौन भोगेगा ? जो भोगेगा उस विचारे को बिना किये का ही फल भुगतना पड़ेगा। इसी प्रकार मुक्त वही होता है जो बद्ध हुआ हो। बद्ध ही कोई नही रहा, तो मुक्त होने का सवाल ही खत्म हो जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि आत्मा को एकान्त नित्य मानना जिस प्रकार दोषपूर्ण है, क्षणिक मानना भी उसी प्रकार दोषपूर्ण है। इन

दोनों मतों के दोषों से बचने के लिए आत्मा को नित्यानित्य मानना ही उचित है, और यही जैन सिद्धांत है।

जैन धर्म के अनुसार आत्मा परिणामिनित्य है। छहों द्रव्य परिणामिनित्य हैं। अर्थात् पर्याय से परिवर्तनशील होते हुए भी द्रव्य से नित्य हैं।

परिणमन दो प्रकार का होता है—आत्मभूत और अनात्मभूत। द्रव्य मे आत्मभूत परिणमन स्वत. होता रहता है और सयोग-सम्बन्ध से अनात्मभूत परिणमन भी होता है। आत्मा का ज्ञानदर्शन आदि गुणों मे परिवर्तन होना आत्मभूत परिणमन होना है, और आत्मा के मूल स्वभाव के विरुद्ध, अन्य के ससर्ग से परिवतन होना अनात्मभूत परिणमन है।

श्री प्रज्ञापना जी ने सूत्र मे जीव का परिणमन दस प्रकार का कहा है। जीव को परिणामी सिद्ध करने के वास्ते दो प्रकार का परिणमन बतलाया गया है—जीव-परिणमन और अजीव-परिणमन। यही दो परिणमन की मूल राशिया हैं।

यह समग्र विराट्-काय विश्व दो ही राशियो मे समाविष्ट है, और वे दो राशियां हैं जीवराशि और अजीवराशि। इन दो राशियों छहों द्रव्यों का तथा नौ ही तत्त्वों का समावेश हो जाता है।

जब हम द्रव्यों का विचार करते हैं तो पांच द्रव्य अजीवराशि में समाविष्ट होते हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) पुद्गलास्तिकाय, और (५) काल। जीव, जीवराशि में है।

एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सब जीव—नारक, देव, सूक्ष्म-बादर, त्रस-स्थावर, पर्याप्त-अपर्याप्त, सिद्ध-संसारी आदि जितने भी

प्रकार के जीव हैं, सब जीव-राशि के ही अन्तर्गत हैं। जीव के अतिरिक्त जो जड तत्त्व हैं वे सब अजीव-राशि मे हैं।

तत्त्व को दृष्टि से विचारण करते हैं तो आस्रव, सवर, पुण्य, पाप और बध अजीव-राशि में हैं, क्योकि यह सब पुद्गलरूप हैं। निर्जरा भी पुद्गलो की होती है और मोक्ष भी पुद्गलो से छूटना ही है। अगर आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और माक्ष के द्रव्य-भाव से दो-दो भेद करके विचार करे तो द्रव्य रूप से ये सब पुद्गल मे और भाव रूा से जीव के अन्तर्गत होगे। जीव के जिन परिणामों से आस्रव बंध आदि होते हैं, वे परिणाम-जीव के हा अतर्गत हैं।

पुद्गल, मैटर, माया, मादा, यह सब पुद्गल के ही पर्यायवाचक नाम हैं। जो पलटता है वह पुद्गल है। सडन-पडन-विध्वसन स्वभाव पुद्गल का है।

जीव अपना काम चलाने के लिये, अपने पोषण के लिए जो ग्रहण करते हैं, वे योगसा पुद्गल हैं। पुद्गल की ही यह कृपा है कि जीव ससार मे भटक रहा है, और मोक्ष नहीं पा रहा है। पुद्गल के प्रभाव से जीव का अपना विशुद्ध स्वरूप उपलब्ध नही होता। वह अपने अमूर्त्त भाव का नही पा सका है।

योगो के द्वारा जीव, पुद्गलो को खीचता है और प्रति समय खीचता ही रहता है, पुद्गलो का सग्रह करता है और पूर्वगृहीत पुद्गलों को भोगता रहता है। पूर्वगृहीत कर्म पुद्गल समय पर—स्थिति का परिपाक होने पर—अपना सुख-दु.ख रूप असर दिखलाते हैं।

सारा संसार पुद्गलों से परिपूर्ण है। जैसे काजल की डिबिया मे सर्वत्र काजल भरा रहता है, उसी प्रकार सारे ससार में पुद्गल भरे हैं। पानी में कोई डुबकी लगाता है तो उसके सब ओर पानी ही

पानी होता है, इसी तरह लोक में जीव के हर तरफ पुद्गल हैं। हम पुदगलों मे डूब रहे हैं। खाने-पीने मे काम आने वाली वस्तुएँ, कर्म, व्यवसाय, लेक्ष्या आदि सब पुद्गलचंद की छावनी है। किसी भी तरफ से अछूता निकलना सम्भव नही है।

इसका आशय यह न समझिए कि कभी कोई जीव पुद्गलों के असर से छूट ही नही सकता। जिस आत्मा मे जागृति आ जाती है और जो अपने स्वरूप को समझ लेता है, वह पुद्गल के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। अनन्त जीव पुद्गल के असर से छूट चुके हैं और भविष्य में छूटेंगे। परन्तु यह छुटकारा होता तभी है जब जीव अपनी शक्ति को समझ लेता है, अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान लेता है और पुद्गलों के संसर्ग से होने वाली अपनी दुरवस्था को समझ लेता है।

जीव को समझना चाहिए कि पुद्गलों ने मेरे स्वरूप को मलीन कर दिया है। मेरी स्वाधीनता को छीन लिया है। यह मेरे लिए किसी भी अवस्था में हितकर—सुखकर नही हैं। इनके साथ मेरा कोई सादृश्य नही है। यह सब जड़ और मैं चैतन्य हूँ। जड़ चेतन पर आधिपत्य करे, यह मेरे लिए लज्जा की बात है।

जीव को जब इस प्रकार का मान हो जाता है और वह आत्म-भाव में केन्द्रित हो जाता है, तब उसमें इतना सामर्थ्य आ जाता है कि वह मोह की फौज को छिन्न-भिन्न कर डालता है।

इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए राजनैतिक कौशल की आवश्यकता नही, वरन् धर्मतत्त्व को ठीक तरह समझने की ही आवश्यकता है। राजनीति अनेक प्रकार के छल-छिद्रो से पूर्ण होती है। भर्तृहरि ने तीन ग्रथ लिखे हैं—शृगार-शतक, नीति-शतक और

वैराग्य-शतक। उन्होने राजनीति को गणिका की उपमा दी है—

वारागनेव नृपनीतिरनेकरूपा।

जैसे वेश्या के अनेक रूप होते हैं, उसी प्रकार राजनीति भी अनेक रूप वाली है। वेश्या किसी समय किसी को राजी करने के लिए कुछ उठा नही रखती तो दूसरे समय उसका तिरस्कार करने से भी नही चूकती। राजनीति मे भी यही होता है। राजनीति की दुनिया मे कब कौन किसका दोस्त है और कब दुश्मन बन जाता है, कुछ भी ठिकाना नही। वह बड़े और विषम उतार-चढ़ाव वाली है।

राजनीति और धर्मनीति में बडा अन्तर है। राजकर्त्ता को साम, दाम, दण्ड और भेद का प्रयाग करना पड़ता है। प्रथम शान्ति से काम बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस तरह काम बन जाए तो ठीक, अन्यथा दाम का दामन पकड़ना चाहिए। अर्थात् पैसा देकर घूँस देकर, टुकडा फेंक कर काम निकालना चाहिए। जब इस तरीके से भी काम न बनता हो तो दण्ड सम्भालना चाहिए— डडे के जोर पर काम बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर विरोधी अधिक शक्तिशाली हो और जान पड़े कि दण्ड दे सकना अपनी सामर्थ्य से बाहर है तो उस पर भेदनीति का प्रयोग करना चाहिए। कहा है—

शूर भेदेन योजयेत्

जिसके घर में फूट पड़ जाती है, वह कितना ही अधिक सामर्थ्य-वान् क्यो न रहा हो, निबल हो जाता है; और उसे पराजित करना सरल हो जाता है। रावण के घर मे फूट पड़ गई और विभीषण अपने भाई से विपरीत होकर राम के पक्ष मे आ मिला। इससे

रावण की शक्ति का ह्रास हुआ और बलवान् होने पर उसे पराजित होना पड़ा।

इस प्रकार राजनीति छल-कपट से परिपूर्ण होती है, परन्तु धर्म-नीति में छल-कपट को कोई स्थान नही है। धर्म सरलता मे टिकता है। कहा है— .

सोही उज्जुभूयस्स, धम्मोमुद्दसत चिट्ठइ।

जो ऋजु होता है, जिसके चित्त में वक्रता नही है, जिसका मन, वचन और काय एक रूप होता है, उसी को आत्मा शुद्ध होती है। शुद्ध आत्मा मे ही धर्म ठहरता है।

धर्मनीति और राजनीति के चरम उद्देश्य मे विरोध न होने पर भी दोनो के तरीको में ३६ के अक के समान भेद है। राजनीति बदला लेती है, धर्मनीति क्षमा करती है। धर्मनीति का अनुसरण करने वाले अध्यात्मनिष्ठ पुरुष को भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति नही होती और न वह उनके प्रयोग मे आनन्द मानता है।

भगवान महावीर को चण्डकौशिक ने डस लिया। सगम देव ने लगातार छ. महीने तक कष्ट दिये। दैवी शक्ति और मानवी शक्ति का मुकाबिला था। देव ने पूरा जोर लगाया। वह जो कुछ भी कर सकता था उसने सभी कुछ किया। इधर भगवान् ने मानवीय शक्ति का पूरा उपयोग किया। उठ कर दैवी शक्ति से लोहा लिया। दोनो शक्तियो ने अपना-अपना चमत्कार दिखलाया। देव की शक्ति एक ओर और मनुष्य की शक्ति दूसरी ओर थी। किन्तु देव-शक्ति मे पाशविकता थी और उधर मनुष्य शक्ति में लोकोत्तर दिव्यता थी। एक ओर हिंसामयी भावना थी, तो दूसरी ओर अनन्त करुणा का झरना बहता था। लम्बे समय तक यह सघर्ष चालू रहा। अन्त में

पाशविक-शक्ति को पराजित होना पड़ा और आत्मिक, शक्ति की विजय हुई।

भौतिक विजय भी एक प्रकार की पराजय है। सच्ची विजय आत्म-विजय है। आत्म-विजय से बढ़ कर दूसरी कोई विजय नही। वह चरम विजय है जिसके पश्चात् पराजय का कभी सामना नही करना पड़ता। भौतिक विजय नये-नये शत्रुओ को उत्पन्न करती है जब कि आत्म-विजय शत्रुता को ही नष्ट कर देती है। आत्म-विजयी का कोई शत्रु रहता ही नहीं है। अतएव आत्म-विजय ही परम विजय है। शास्त्र मे कहा है—

जो सहस्स सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणिज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ॥

एक सुभट विकराल संग्राम में लाखो योद्धाओ पर विजय प्राप्त करता है और दूसरा कोई तपस्वी सिर्फ अपनी आत्मा को जीतता है। प्रश्न है–इन दोनों वीरो में किसका दर्जा ऊँचा है? कौन श्रेष्ठ विजेता गिनने योग्य है? इसी प्रश्न का यहां समाधान दिया गया है। आत्मा को जीतने वाला शूरवीर पुरुष ही श्रेष्ठ विजेता है। उसकी विजय परम विजय है। रण-विजयी सच्चा विजयी नही है। इन्द्रिय-विजयी ही सच्चा विजयी है। रण-विजेता संसार मे बहुत होते हैं, परन्तु इन्द्रिय-विजेता विरले ही होते हैं।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में विनयशील को शिक्षा देते हुए कहा गया है –

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥

अर्थात्–दमन करना है तो आत्मा का ही दमन कर। जब तूँ किसी और का दमन करने के लिए उद्यत होता है तो अपने को

पराजित करने के लिए तैयारी कर रहा है। तू अपने मन को जीत, जिससे तेरे सब दु खों का अन्त आ जायगा। परन्तु आत्मा को जीतना हंसी-खेल नही है। यह आत्मा दुर्दम है। एक छोटी-सी कुटेव को छोडना भी लोगों को कठिन मालूम होता है। सिगरेट छोड़ना भी मुश्किल है। इस जीवन में हजारों कुटेवें भरी पडी हैं। उनका दमन करना सरल नही है। जब आत्मा उन्हे दमन करने के लिए उद्यत होती है तो मन विद्रोह करने लगता है। मन आत्मा का मन्त्री है और जव मन्त्री ही कुटिल हो और राजा को गलत राह पर ले जाने के लिए कटिबद्ध हो जाय तो क्या अनर्थ नही हो सकता? मन के विद्रोह के कारण आत्मा को अपने आन्तरिक शत्रुओ को जीतने में वडी कठिनाई होती है।

फिर भी एक बात तो निश्चित ही है कि सुख की प्राप्ति उसी को होती है जो आत्म-विजय करता है—अपनी आत्मा का दमन करता है। आत्म-विजेता महावीर इस लोक मे भी सुखी होता है और परलोक में भी सुखी होता है।

आत्म-दमन का अर्थ है अपनी इन्द्रियों और मन पर नियत्रण स्थापित करना, इन्द्रियो और मन की जो विषयो को ओर प्रवृत्ति होती है, उसे रोक देना। यद्यपि यह सभव नही है कि नेत्रो के समक्ष आया हुआ रूप दिखाई न दे या किसी का बोला हुआ शब्द सुनने से कान इनकार कर दे। योग्य देश में विषय होगा तो इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण हो ही जाएगा, मगर उस विषय, अर्थात् रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द में हम अपनी ओर से मनोज्ञता और अमनोज्ञता का जो आरोप कर देते हैं, वह हमारी विकृत वुद्धि का परिणाम है।

रूप अपने आप मे जैसा है, वैसा है। वह अपने निज के स्वभाव से न अच्छा है और न बुरा है। परन्तु दर्शक अपनी ओर से उसमें

अच्छेपन या बुरेपन की कल्पना करता है। किसी रूप को अच्छा मान लेता है और किसी को बुरा समझ लेता है। उसकी कल्पना यहीं तक नही रुक जाती। जिस रूप को वह अच्छा समझता है उस पर राग करता है, और जिसे बुरा समझता है उस पर द्वेष करता है।

यह जो राग-द्वेष की वृत्ति है, उसको निर्मूल कर देना ही इन्द्रिया पर विजय प्राप्त करना है। वास्तव मे यहा वृत्ति कर्म-वध का कारण है। इसी से जीव अनेक तरह से परेशान होता है। रूप आदि विपयो मे यह शक्ति नही कि वे आत्मा को कलुषित कर सके। उन्हे भला-बुरा मान कर राग-द्वेष की परिणति, जो आत्मा मे उत्पन्न होती है, वहा आत्मा के लिए दु:खप्रद होती है। अतएव इस परिणति का दमन करना ही सच्चा आत्म-दमन है।

महामुनिराजो की आख-कान आदि इन्द्रिया खुली ही रहती हैं। वे सदा नेत्रो को वद नही रखते, कानो को दबाये नही रहते, नाक बन्द नही रखते, आहार करते समय विविध रसो के स्पर्श से जिह्वा को पृथक् नही रखते, अकस्मात् किसी वस्तु का शरीर से स्पर्श हो जाने पर उसका अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी इन्द्रिया भी अपने-अपने विषय को निमित्त मिलने पर ग्रहण करती हैं। फिर भी वे जितेन्द्रिय कहलाते हैं, दान्तात्मा कहलाते हैं। इसका क्या कारण है ?

कारण यही है कि विषयो को ग्रहण करते हुए भी वे उनमे राग-द्वेष नही करते। किसी को मनोज्ञ और किसी को अमनोज्ञ मान कर हर्ष-शोक का अनुभव नही करते। इन्द्रियो के विषय में वे पूर्ण तटस्थ भाव धारण किए रहते हैं। इसी कारण वे जितेन्द्रिय और दान्तात्मा कहलाते हैं। इस प्रकार तटस्थ भाव से विषयों का ग्रहण

हो जाने पर भी उनका आत्मा राग-द्वेष के विष से विषाक्त नही वनती।

इस प्रकार का समभाव जव आत्मा में जागृत हो जाता है तो अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है। समभावी जीव को आनन्द की प्राप्ति करने के लिए भविष्य की प्रतीक्षा नही करनी पडती। उसे इसी जन्म में अनूठा आनन्द मिलने लगता है। परलोक में तो वह सुखी होता ही है, पर इस लोक में भी उसे बडी निराकुलता मालूम होती है।

वास्तव में समभाव नकद धर्म है। तत्काल ही वह जीव को फल प्रदान करता है। अतएव अगर आत्मा का उत्थान करता है तो आत्म-दमन का अर्थ समझो और आत्मदमन करो।

ख्याल किया जा सकता है कि उत्थान और दमन परस्पर विरोधी हैं। दमन से शक्ति कुंठित होती है तो आत्म-दमन से आत्मोत्थान कैसे हो सकता है? परन्तु यहां आत्म-दमन का अर्थ है योगात्मा और कषायात्मा का दमन करना। इनका दमन ही जीवात्मा के उत्थान का कारण है। ज्यो-ज्यों योगात्मा और कषायात्मा का दमन करने मे सफलता मिलती जाती है त्यों-त्यों आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप गुणों का विकास होता जाता है। योगात्मा और कषायात्मा का दमन शोषक तत्त्वों का दमन है, आत्मा की अशुद्ध अवस्था का दमन है। आत्म-दमन का अर्थ ज्ञानात्मा आदि का दमन करना नही समझना चाहिए।

आज यह जीव आत्मशक्ति को भूल रहा है। आत्मशक्ति महान् है, महत्तर है, महत्तम है। मगर जीव उसे भूल कर भौतिक शक्ति पर भरोसा कर रहा है। उसे यह विचार नही आता कि भौतिक शक्ति का विकास करने वाला कौन है? आज के जगत में जो भी

वैज्ञानिक प्रगति हुई है, वह आत्मा की बदौलत ही तो है। जड़ पदार्थों में यह सामर्थ्य कहां है कि वे स्वय प्रगति कर सके? वास्तव में आज जो भी भौतिक उन्नति है, वह आत्मा की विशिष्ट क्षमता की परिचायिका है। मगर साधारण लोग उस प्रगति को देखते हुए भी प्रगतिकर्त्ता की ओर से आख बन्द कर लेते हैं।

अगर दुनियाँ इस प्रगति के साथ प्रगतिकर्त्ता आत्मा को भी देखे-समझे तो ससार मे जो अशान्ति व्याप रही है, वह बहुत अशों मे कम हो सकती है। जो लोग भौतिक शक्ति पर विश्वास करते हैं, वे अगर आत्मिक शक्ति पर भी विश्वास करने लगे तो दुनियाँ का नक्शा ही बदल जाय। फिर भयानक शस्त्रास्त्रो की होड़, जो आज हो रहा है और दुनियाँ को व्याकुल बना रही है, वह सहज ही समाप्त हो सकती है। जब तक आत्मिक शान्ति के महत्त्व को न समझा जायगा, तब तक जगत् मे स्थायी शान्ति स्थापित न होगी।

जैसे मछली को पानी मे ही शान्ति मिल सकती है, रेत मे नही, उसी प्रकार आत्मा को स्वाभाव मे ही शान्ति मिल सकती है, पर-भाव मे नही। पर-भाव आत्मा के दुख का कारण है और उसी से समस्त दुखो की प्राप्ति होती है।

पशु अपने खूँटे से बंधा रहता है तो उसे खाने-पीने को मिलता है। अगर वह अपना स्थान छोड़ कर इधर-उधर भटकने लगे तो लाठियाँ पडती हैं। इसी प्रकार आत्मा जब स्वाभाव से सम्बद्ध रहता है तो उसे आनन्द की प्राप्ति होती है। अगर वह अन्यत्र—पर-भाव में चला जाता है तो उसे नाना प्रकार के प्रहार झेलने पड़ते हैं।

भगवान् महावीर के जीवन-चरित को पढ़ने से पता चलता है कि उन्हे आत्मिक शक्ति पर अटूट विश्वास था। तभी तो सेवा के लिए

आए हुए इन्द्र को सेवाओ को अस्वीकार करते हुए उन्होने कहा था—इन्द्र, तीर्थकर अपनी ही भुजाओ से संकटो के सागर को पार करते हैं। उन्हें दूसरे की सहायता की अपेक्षा नही होती। तुम मेरी चिन्ता न करो। मैं सब सह लूँगा।

कितना उग्र आत्मविश्वास है! इसी कारण वे वीर ही नही, महावीर कहलाए।

जो अपनी आत्मा पर इस प्रकार का विश्वास रखता है वही वास्तव में वीर कहलाता है, अन्यथा—

हो फसा व्यसनों मे जो, वह वीर है किस काम का ?
जंग जिसको लग चुका, वह तीर है किस काम का ?

जो व्यसनो के जाल मे फंसा है, इन्द्रियो का गुलाम है, उसे वीर नही कह सकते। वह तो बन्दर है, जो कलन्दर की अगुलियो के इशारे पर नाचता है। कलन्दर जिस प्रकार चाहता है, उसी प्रकार बन्दर को नाच नचाता है। ऐसे वन्दर का क्या अस्तित्व है ? इसी प्रकार जो मनुष्य मन रूपी कलन्दर के इशारे पर नाचता-कूदता है, उसको वीर कैसे कहा जा सकता है ? सच्चा वीर तो वही कहला सकता है जो अपने मन को जीत चुका हो, इद्रियो को जीत चुका हो, और उन पर अपना सिक्का जमा चुका हो।

भगवान् महावीर ऐसे ही महावीर थे। सगम ने छ: मास तक उन्हे कितना कष्ट पहुचाया ! कितने उपसर्ग दिये ! मगर कभी उनके ललाट पर सिकुड़न तक न आई ! कैसी अटल धीरता ! कितनी अदभुत वीरता ! दुस्सह से दुस्सह कष्टो मे भी प्रसन्न, शान्त और स्वाभाविक ! धन्य महावीर ! तू वास्तव में महावीर था। तेरा स्मरण आज भी वीरता का भाव जगाने वाला है। तेरा पावन

नाम सजीव आत्मश्रद्धा का प्रतीक है। फौज मे भर्ती होने वालों की कमी नही, किन्तु गोली चलने के समय रण-क्षेत्र मे डटे रहने वाले सूरमा बिरले ही होते हैं। प्रभो ! तू ऐसे ही वीरो मे महावीर था।

सब ही बाजे लश्करी, सब लश्कर मे जाय।
लात धमूका जो सहै, सो जागीरो पाय।

फौज मे भर्ती होने वालो को अनेक सुविधाये मिलती हैं। प्रथम तो फौजी पोशाक पहनते ही रंगरूट अपने आपको खुदा का बच्चा समझने लगता है। जब दूसरे लोग उस पोशाक में उसे देखते और भयभीत-से होते हैं तो वह फूला नही समाता। इस प्रकार के प्रलोभन देख कर बहुत लोग फौज में दाखिल हो जाते हैं। मगर सैनिक के महान् उत्तरदायित्व को निभाने वाले कितने होते हैं और रोटियो के लिए भर्ती होने वाले कितने होते हैं ?

भगवान् महावीर ने गम्भीर विचार के पश्चात् दीक्षा अंगीकार की थी। कहा है—

सोच करे सो सूरमा, कर सोचे सो कूर।
उसके सिर पर फूल है, तिसके सिर पर धूर !

कार्य प्रारम्भ करने से पहले सोचना चाहिए। कार्य करके सोचने से क्या लाभ है ? पानी पीकर जाति पूछना मूर्खता है। जिसे परहेज है, उसे तो पहले ही जात पूछनी चाहिए।

भगवान् महावीर ने पहले ही सोच लिया था कि इस मार्ग में कष्ट ही कष्ट हैं, और उन्हे उनसे लोहा लेना पडेगा। किसी ने ठीक ही कहा है—

करने से पहले सोच लो हर काम का अंजाम,
रख कर कदम पीछे को हटाना नही अच्छा।

मर्दों को धर्म काम मे डरना नही अच्छा,
नामर्द से उम्मीद का करना नही अच्छा ।।
क्या गम धर्म प्रचार में गर जान भी जाए,
वदरसम औ' वदकाम मे मरना नही अच्छा ।।

सज्जनो ! नामर्द से किसी वात की उम्मीद नही का जा सकती। जो उसके भरोसे रहते हैं, वो धोखा खाते हैं।

पहले सोच लो, समझ लो। अगर तुम्हें कोई काम अच्छा और हितकर प्रतीत होता है और उसे सम्पन्न करने की शक्ति तुम में हैं तो कदम आगे वढाओ। मगर कदम जो आगे वढ़ा दिया सो वढा दिया। अव वह पीछे नही हटाना चाहिए। वीर पुरुष का कदम पीछे नही हट सकता। डर की बात भी क्या है ? अगर धर्म की रक्षा करते करते प्राणो का उत्सर्ग भी करना पड़े तो क्या हानि है ? ऐसी मौत किसी भाग्यशाली को ही मिलती है। यह वह मौत है जो स्वर्गीय सुखो को सन्निकट ले आती है। ऐसी मौत के विना स्वर्ग के सुख सुलभ भी कैसे हो सकते हैं ?

पापी जीव मृत्यु से डरते हैं, धर्मात्मा नही। धर्मात्मा सोचता है—मृत्यु वह मित्र है जो इस शरीर के कारागार से छुटकारा दिलाती है। इससे छुटकारा पाये विना साधना का पूरा फल स्वर्ग या मोक्ष नही मिलता। उस फल को समीप लाने के लिए मृत्यु मेरी सहायक वन कर आई है।

कितना सही और सुन्दर कहा है —

तप करता जोवन गया, द्रव्य गया पुण्यदान।
प्राण गये सतसंग में, तीनो गये न जान ।।
नारी-सग जोवन गया, द्रव्य गया मदपान।
प्राण गये कुसग मे, तीनो गये नादान ।।

: ४ :

जीव का परिणमन

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकास्मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

कल आत्मा के विषय में विवेचना करते हुए कहा था कि आत्मा न तो एकान्त-नित्य है और न एकान्त-अनित्य है, अपितु परिणामी-नित्य है। एकान्त-नित्य मानना प्रमाण से बाधित है और एकान्त-अनित्य मानना भी उसी प्रकार है। दोनों एकान्त मान्यताओं में संसार, मोक्ष, स्मृति, कर्मफल का भोग आदि बातों की संगति नहीं बैठ सकती। इसलिए जिन-शासन में दोनों एकान्त न स्वीकार करके आत्मा को नित्य होने के साथ परिणमनशील भी माना है।

जिन लोगों को वास्तविक वस्तु-तत्त्व समझने की पद्धति मालूम नही है, वे आत्मा का जब परिणामी-नित्य होना सुनते हैं तो सोचते

हैं—अगर आत्मा परिणमनशील है तो नित्य कैसे हो सकता है ? और यदि नित्य है तो परिणमनशील किस प्रकार हो सकता है ? नित्यत्व और परिणमित्व मे परस्परिक विरोध है।

जो वस्तु अपने स्वरूप से च्युत न हो, उत्पन्न न हो, जैसी है वैसी ही सदैव बनी रहे, एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को भी धारण न करे, वह नित्य कहलाती है। और जो अपनी अवस्थाओ का त्याग करके क्षण भर मे नष्ट हो जाए वह अनित्य कहलाता है। इस प्रकार नित्यता अनित्यता आपस में विरोधी गुण हैं। इन दो विरोधी गुणो मे से कोई एक ही गुण आत्मा मे हो सकता है। ऐसी स्थिति मे आत्मा को परिणामी अर्थात् अनित्य और साथ ही नित्य मानना किस प्रकार ठीक है ?

सज्जनो ! आप जानते ही हैं कि जैन सिद्धान्त किसी भी एकान्त का स्वीकार नहीं करता। वह अनेकान्तवादी सिद्धान्त है। अनेकान्त की उपयोगिता इस बात मे है कि वह ऊपर-ऊपर से प्रतीत होने वाले विरोध का मथन कर देता है। स्याद्वाद का लक्षण ही विरोध को हटा देना है। कहा भी है—

विरोधमथनं हि स्याद्वादः।

जहा वास्तव मे विरोध नही है, मनुष्य की कल्पना वहा भी विरोध की दीवार खडी कर देती है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि सही विचार का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और लोग गलत विचार के रास्ते पर चल पडते हैं। उन्हें वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप मालूम नही हो सकता। जब वस्तु का सही स्वरूप नही मालूम होता तो वे तरह-तरह की निराधार कल्पनाएँ खड़ी कर लेते हैं और सत्यमार्ग से भटक जाते हैं।

तपश्चरण करते-करते यौवन व्यतीत हुआ, अच्छा ही हुआ ! पानी खेत मे ही गया । पाक अच्छा होगा । दान मे धन गया तो अधिक लेने गया । सत्सग करते-करते-पथारा करते हुए प्राणो का जाना भी अच्छा है । इसके विपरीत यदि यौवन विषय-विलास में व्यतीत किया, धन मदिरापान मे स्वाहा कर दिया और कुसंगति में प्राण गवा दिये तो तीनो नादानी मे गये ।

भगवान् महावीर का जब उठता हुआ यौवन था, तभी उन्होंने तपोमय जीवन अगीकार कर लिया । वे विषयो से सर्वथा विमुख होकर साधना के मार्ग पर बड़ी दृढता के साथ आगे बढे । उनमे इतनी आत्मिक शक्ति थी कि करोड इन्द्र भी सामना नही कर सकते थे । अकेले सगम की तो क्या चलाई ! उपसर्ग करते-करते वह स्वय 'सते तते परितते' हो गया । वह थक गया, परास्त हो गया और लज्जित हो गया । भगवान का स्वभाव ज्यो का त्यो स्थिर रहा । आत्मशक्ति के सामने दैवी शक्ति परास्त हो गई ।

ग्रथकार कहते हैं—जब सगम देव हार मान कर चला गया तो करुणा वरुणालय महावीर भगवान के नेत्र गीले हो गये । उनके अन्तःकरण मे अपार दया का झरना बहने लगा । उन्होंने सोचा—बेचारा सगम स्वर्ग के सुख छोड़ कर आया और यहा आकर दुःखी हुआ । मैं उसका कल्याण न कर सका । बेचारे को मेरे निमित्त से कर्म बध गये !

अहो करुणा सागर ! भीषण से भीषण दुख देने वाले के प्रति भी तेरी इतनी करुणा ! वास्तव मे यह दयालुता की चरम सीमा है !

अभिप्राय यह है कि जो आत्मा के स्वरूप को समझ लेता है और आत्म-शक्ति पर जिसकी श्रद्धा हो जाती है, उसके लिए शूल भी फूल बन जाते हैं ।

मगर आत्मा के स्वरूप को समझने मे ही कठिनाई है। आत्मा के विषय मे जो मत मतान्तर हैं, उनके चक्कर में पड जाने पर मनुष्य वास्तविक ज्ञान से वचित हो जाता है। वास्तविक आत्मस्वरूप केवल ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है, बुद्धि के द्वारा नही। अतएव हमें केवलियों की प्ररूपणा को ही अन्तिम लक्ष्य मान कर उसी पर श्रद्धा करनी चाहिए और उन्होने जिस पथ पर चल कर केवल ज्ञान और आत्मस्वरूप का लाभ किया, उसी पर चल कर हमें भी यह अपूर्व लाभ प्राप्त करना चाहिए।

जो भव्य पुरुष आत्मा को समझने का प्रयास करते हैं और उसे समझ कर शुद्ध आत्म वरूप की उपलब्धि के लिए संयम का जीवन अगीकार करते हैं, जो योगात्मा और कषायात्मा का दमन करते हैं और जीव की समस्त विभाव परिणतियो को हटा देते हैं, वे ससार-समुद्र को पार करके मुक्ति प्राप्त करते हैं और अनन्त अक्षय अव्याबाध सुख के स्वामी हो जाते हैं।

राज कोट,
३-८-५४

: ४ :

जीव का परिणमन

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ।।

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायका: ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्नत्रयाराधका:,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ।।

कल आत्मा के विषय में विवेचना करते हुए कहा था कि आत्मा न तो एकान्त-नित्य है और न एकान्त-अनित्य है, अपितु परिणामी-नित्य है। एकान्त-नित्य मानना प्रमाण से बाधित है और एकान्त-अनित्य मानना भी उसी प्रकार है। दोनों एकान्त मान्यताओ में संसार, मोक्ष, स्मृति, कर्मफल का भोग आदि बातो की संगति नही बैठ सकती। इसलिए जिन-शासन में दोनों एकान्त न स्वीकार करके आत्मा को नित्य होने के साथ परिणमनशील भी माना है।

जिन लोगों को वास्तविक वस्तु-तत्त्व समझने की पद्धति मालूम नही है, वे आत्मा का जब परिणामी-नित्य होना सुनते हैं तो सोचते

हैं—अगर आत्मा परिणमनशील है तो नित्य कैसे हो सकता है ? और यदि नित्य है तो परिणमनशील किस प्रकार हो सकता है ? नित्यत्व और परिणमित्व मे परस्परिक विरोध है।

जो वस्तु अपने स्वरूप से च्युत न हो, उत्पन्न न हो, जैसी है वैसी ही सदैव बनी रहे, एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को भी धारण न करे, वह नित्य कहलाती है। और जो अपनी अवस्थाओ का त्याग करके क्षण भर मे नष्ट हो जाए वह अनित्य कहलाता है। इस प्रकार नित्यता अनित्यता आपस मे विरोधी गुण हैं। इन दो विरोधी गुणों मे से कोई एक ही गुण आत्मा मे हो सकता है। ऐसी स्थिति मे आत्मा को परिणामी अर्थात् अनित्य और साथ ही नित्य मानना किस प्रकार ठीक है ?

सज्जनो ! आप जानते हो हैं कि जैन सिद्धान्त किसी भी एकान्त का स्वीकार नही करता। वह अनेकान्तवादी सिद्धान्त है। अनेकान्त की उपयोगिता इस बात मे है कि वह ऊपर-ऊपर से प्रतीत होने वाले विरोध का मथन कर देता है। स्याद्वाद का लक्षण ही विरोध को हटा देना है। कहा भी है—

विरोधमथनं हि स्याद्वादः।

जहां वास्तव में विरोध नही है, मनुष्य की कल्पना वहा भी विरोध की दीवार खडी कर देती है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि सही विचार का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और लोग गलत विचार के रास्ते पर चल पडते हैं। उन्हे वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप मालूम नही हो सकता। जब वस्तु का सही स्वरूप नही मालूम होता तो वे तरह-तरह की निराधार कल्पनाएँ खड़ी कर लेते हैं और सत्यमार्ग से भटक जाते हैं।

सचाई यह है कि प्रत्येक वस्तु मे अनेक गुण–धर्म विद्यमान हैं और वे ऐसे हैं जो गभीर विचार न करने पर आपस में विरोधी दिखाई देते हैं, किन्तु उन्हे देखकर घबराना नही चाहिए। जो घबरा जाएगा व भटक जाएगा। बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों के सम्बन्ध मे अपेक्षा का विचार करे। जब अपेक्षा समझ मे आ जाती है. तो विरोध खत्म हो जाता है। विरोध तभी तक मालूम होता है जब तक आप अपेक्षा-भेद को नही समझ पाये हैं। अतएव विरोध को हटाने की सरल सी कुञ्जी अपेक्षा-भेद को समझ लेना है।

इस बात को समझने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए। एक ही व्यक्ति पिता भी होता है, और पुत्र भी होता है। अब यह कहा जा सकता है कि पितृत्व और पुत्रत्व मे विरोध है। जो पिता है, वह पुत्र कैसे हो सकता और जो पुत्र है वह पिता कैसे हो सकता है ? यह अपेक्षा को समझने की आवश्यकता है। वह व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है। इस अपेक्षाभेद से उसमे दोनो धर्म बिना किसी विरोध के रहते हैं।

अगर अपेक्षा का विचार न किया जाए और पितृत्व-धर्म तथा पुत्रत्व-धर्म को परस्पर विरुद्ध समझ कर एक ही व्यक्ति मे दोनों धर्म न माने जाए और दो मे से किसी एक ही धर्म को स्वीकार किया जाय तो कितनी बड़ी गडबडी हो जायेगी ? उस व्यक्ति में एक धर्म अगर पितृत्व माना जाय तो वह जसे अपने पुत्र का पिता है, उसी प्रकार सब का पिता हो जाएगा। अपने पिता का भी पिता कहलाएगा, पत्नी का भी पिता हो जायेगा। इसी प्रकार अगर सिर्फ पुत्रत्वधर्म माना जाय तो जैसे वह अपने पिता का पुत्र है, वैसे ही अपने पुत्र का भी पुत्र हो जायेगा, पत्नी आदि का भी पुत्र कहलाएगा—सभी का पुत्र ठहरेगा।

इस लोक-विरोध से बचने का सरल तरीका यही है कि एक व्यक्ति में अनेक धर्म स्वीकार करने चाहिए, अर्थात् उसे पिता भी मानना चाहिए और पुत्र भी मानना चाहिए। अब रही बात यह कि दो परस्पर विरोधी धर्म एक ही वस्तु मे कैसे मान लिए जाएँ ? इसका समाधान यह है कि अपेक्षा-भेद से विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म भी अविरोधी हो जाते हैं। अतएव जहा विरोध प्रतीत होता हो वहा अपेक्षा की खोज करनी चाहिए।

वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमे अनेक धर्म हैं। हम अपेक्षा को भुला देते हैं तो विरोध प्रतीत होने लगता है। जब अपेक्षा को समझ लेते हैं तो विरोध कपूर की तरह हवा मे उड जाता है। मगर इस भेद को न समझने से ही दर्शन के क्षेत्र मे सैकडो तरह की भ्रान्तियाँ आकर जम गई हैं। जितने भी एकान्तवाद हैं, वे सब इसी भ्रान्ति के परिणाम हैं। अगर अपेक्षावाद को समझ लिया जाय तो दर्शन-जगत का लगभग सारा विरोध क्षण भर में हट सकता है।

हाँ, तो इतनी भूमिका के पश्चात् प्रस्तुत विषय पर आइये। आत्मा न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य है, वरन् परिणामी नित्य है। परिणामी-नित्य का अर्थ यह है कि उसमे अवस्थाओ का परिवर्त्तन होता रहता है फिर भी वह अपने मूल रूप से नित्य है। जैन धर्म के परिभाषिक शब्दो मे इसे यो कह सकते हैं कि आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है।

आत्मा की यह नित्यता और अनित्यता इतनी स्पष्ट है कि अगर मन में दुराग्रह न हो तो सहज ही समझ मे आ जाती है। आत्मा आत्म-भाव से अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। न उसकी उत्पत्ति हुई है और न विनाश होने वाला है। वह त्रिकाल में रहने वाली सत्ता है। यही आत्मा का द्रव्य नित्यत्व है। किन्तु

आत्मा नित्य होने पर भी पर्याय से एक रूप नही रहता। जैसे सोना कड़ा, कुंडल, कठा आदि अनेक रूपो में पलटता रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, नारक आदि अवस्थाओ को धारण करता रहता है। अभी आप का आत्मा मनुष्य अवस्था में है, परन्तु भविष्य मे देव अवस्था धारण कर सकता है। कोई भी अन्य अवस्था उसे धारण करनी ही होगी। अनादि काल से यही होता आ रहा है। सब जीव अपने कर्मो के अनुसार नाना गतिया मे और नाना प्रकार की योनियो मे भटक रहे हैं।

तो इस प्रकार नाना अवस्थाओ को धारण करने पर भी, पूर्व अवस्था को त्याग कर उत्तर अवस्था को ग्रहण करने पर भी, आत्मा आत्मा ही बना रहता है। यही आत्मा की परिणामी नित्यता है।

मनुष्य जन्म लेता है तो बालक होता है। बाल्यवस्था त्याग कर वह कुमार अवस्था मे आता है, कुमार अवस्था को त्याग कर युवावस्था मे आता है, और जब युवावस्था व्यतीत हो जाती है तो प्रौढावस्था और वृद्धावस्था उत्पन्न होती है। इस प्रकार अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं और विनष्ट होती रहती है, फिर भी अवस्थाओ के साथ मनुष्य नष्ट नही होता, और न बार-बार उत्पन्न होता है। वह स्थायी रहता है। यही बात आत्मा के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए।

लेकिन शरीर का बाल्यावस्था से युवावस्था मे जो परिणमन हुआ है. वह किसी एक नियत तिथि या मुहूर्त्त पर नही हो गया है। ऐसा नही है कि बालक दस-पाच वर्ष मे एक बार बढ़ जाता हो। यह भय भी नही कि जन्मगाठ के दिन उसकी वृद्धि हो। बालक प्रतिदिन बढ़ता रहता है और प्रतिदिन ही नही, वरन प्रति घण्टा, प्रति मिनट, प्रति सैकिंड और प्रत्येक समय मे उसमे परिणमन होता रहता है। समय-समय होने वाले इस परिणमन के फलस्वरूप ही लम्बे काल में इन्द्रियग्राह्य स्थूल परिणमन होता है। अगर प्रति

समय थोड़ा-थोडा परिवर्तन न होता तो दीर्घकाल के पश्चात् होने वाला परिवर्तन भी सम्भव न होता।

तो शरीर में प्रतिपल परिणमन हो रहा है, उसके सम्बन्ध में सदेह नही किया जा सकता, फिर भी वह इतना सूक्ष्म होता है कि हमारी निगाह में नही आता। यह परिवर्तन मूर्त्त द्रव्य का हाने पर भी हमारे अनुभव स परे है। जब वही परिवर्तन स्थूल रूप धारण कर लेता है तो हमे दिखाई देने लगता है।

शास्त्रो मे इस परिणमन को व्यजनपर्याय और अर्थपर्याय कहते हैं। सिर्फ एक समय तक रहने वाला सूक्ष्म पर्याय-परिणमन अर्थ पर्याय है और त्रिकालस्पर्शी स्कूलपर्याय व्यंजनपर्याय है।

जिस तरह शरीर मे अर्थ पर्याय और व्यजनपर्याय होते रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा मे भी हाते रहते हैं, परन्तु उनमे से अनेक पर्याय हमारे अनुभव मे नही आते हैं फिर भी उनकी सत्ता सर्वथा स्वीकरणीय है।

आत्मा का जो परिणमन होता है वह जीवरूप ही होता है, अजीव का परिणमन अजीवरूप होता है। जीव के परिणमन को दो भागो मे बाटा जा सकता है—द्रव्यपरिणमन और भावपरिणमन। आत्मा कर्मो के सम्बन्ध से जो परिणमन करता है, वह द्रव्यपरिणमन ह और आत्मभावी गुणो में ही परिणमन होना भावपरिणमन है।

यों तो क्षण-क्षण में प्रत्येक द्रव्य में पृथक्-पृथक् परिणमन हो रहे हैं, अतएव उनकी संख्या ही नही है, तथापि मुख्य रूप से गणना करके प्रज्ञापना सूत्र में जीव के दस प्रकार के परिणमन कहे गये हैं, क्याकि कर्म के सम्बन्ध से जीव दस बोलों के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। उनमे गतिपरिणाम पहला है।

आत्मा स्वभाव से चैतन्यमय, सुखमय, और निराकार-निर्विकार होने पर भी कर्म के संयोग से गतियों के साथ सम्बन्ध करता है। उदाहरणार्थ—इस समय हम लोग मनुष्य-गति में हैं। गतिया चार हैं और आगति के भी चार ही प्रकार हैं। जाना गति कहलाता है और आना आगति। जाकर पुन आने का अर्थ आगति है।

जीव अनादि काल से आवागमन कर रहे हैं। जैसे बनिया दुकान से घर और घर से दुकान आता-जाता है, उसी प्रकार यह सकर्म जीव किसी गति में जाता है और जब वहां की आयु पूरी हो जाती है तो फिर दूसरी गति में आता है।

कौन जीव किस गति मे जाय, यह उसके उपार्जित कर्म पर निर्भर है। जिस गति के योग्य कर्म बांधता है, उसी गति में उस जीव को जाना पड़ता है। किस प्रकार के कार्य करने से किस गति के योग्य कर्म बंधते हैं, इसका शास्त्रो में विस्तार से वर्णन किया गया है। परमदयालु भगवान् अरिहन्त देव ने स्पष्ट रूप से समझा दिया है कि अगर ऐसे-ऐसे कार्य करोगे तो ऐसी गति में जाना पड़ेगा। मनुष्य विभिन्न गतियों में जन्म होने के कारणो को ठीक तरह समझ ले और दुर्गति के कारणो से बचे तो उनका दुर्गति में जाना रुक सकता है। सक्षेप में वे कारण इस प्रकार हैं—

१. नरकगति—बहुत आरम्भ करने से, बहुत परिग्रह सचय करने से, पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से और मास भक्षण से नरकगति में जाना पड़ता है।

२. तिर्यंचगति—इस गति का मुख्य कारण छल-कपट मायाचार करना है।

३. मनुष्य गति—अल्प आरम्भ करने वाला, अल्प परिग्रह से निर्वाह करने वाला, स्वभाव से निष्कपट जीव मनुष्य गति मे उत्पन्न होता है।

४ देव गति—अकामनिर्जरा करने से, अज्ञानपूर्वक तपश्चरण करने से, देशविरति का सेवन करने से देवगति की प्राप्ति होती है। जो जीव ज्ञानपूर्वक सयम और तप का अनुष्ठान करते हैं, सर्वविरति का पालन करते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं। अगर उनके कर्म शेष रह जाते हैं तो वे उच्चकोटि की देवगति में उत्पन्न होते हैं।

तो जो जीव मनुष्य गतिजनक काय करता है वह मनुष्यगति मे उत्पन्न होता है। जब जीव मनुष्यगति में उत्पन्न होता है तो वह मनुष्य कहलाता है। उस समय कोई उसे तिर्यंच, नारक या देव नही कहता, क्योंकि उसके मनुष्यगति और मनुष्यायु कर्म का उदय है।

मनुष्य के ३०३ भेद हैं। उनमें २०२ भेद सज्ञी मनुष्य के और १०१ भेद असंज्ञी के हैं। यह सब भेद मनुष्यगति नामकर्म के उदय से हैं।

तो आत्मा ने मनुष्य रूप शरीर के साथ सम्बन्ध जोडा है, इस लिए वह मनुष्य कहलाता है। जब मनुष्य, देव या तिर्यंच या नरक गति के योग्य कर्म करता है तो मनुष्यायु समाप्त होने पर उसका उसी रूप में परिणमन हो जाता है। उस समय वह जीव नारकी, तिर्यंच या देव के नाम से ही पुकारा जाता है। इस प्रकार जीव जिस प्रकार के कर्म से सयोग करता है, उसी नाम से पुकारा जाता है।

तिर्यंच के ४८ भेद हैं—एकेन्द्रिय के २२, विकलेन्द्रिय के ६ और पचेन्द्रिय के २०।

यह जीव तिर्यंचगति नामकर्म के उदय से तिर्यंच बनता है। तिर्यंचों का जगत् बहुत विशाल है। जितने भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय,

त्रीन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीव हैं, वे सभी तिर्यंच हैं। पचेन्द्रियों में भी तिर्यचो की वडी सख्या है। शेप तीन गतियों में तो सिर्फ पंचेन्द्रिय जीव ही होते हैं परन्तु तिर्यंच गति में एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी प्रकार के जीव हैं।

आज अगर कोई हमारा थोड़ा-सा अपमान कर देता है तो हम सहन नही कर सकते। प्रथम तो अपमानजनक शब्द कानों मे पड़ते ही आखे लाल हो जाती हैं। भौहें चढ़ जाती हैं, ओठ फड़कने लगते हैं और नथुने फूलने लगते हैं। फिर तरह-तरह से उसका वदला लेने पर उतारू हो जाते हैं। मन में गाठ वाध लेते हैं। जव भी अवसर मिलता है तो वदला लेने से नही चूकते। कई बार मानहानि का दावा करते हैं और न्यायालय की शरण लेते हैं। हजारों रुपया व्यय हो जाए तो भले हो जाय, परन्तु भग हुए मान की मरम्मत अवश्य होनी चाहिए; उस समय हम भूल जाते हैं कि हम वही हैं जो अनन्त वार पृथ्वीकाय मे जन्म ले चुके हैं!

पृथ्वीकाय में उत्पन्न होकर इस जीव ने क्या-क्या सहन नहीं किया? अरे जीव! जव मनुष्य ने तेरे ऊपर मल-मूत्र त्याग किया, उस समय तूने किस अदालत के दरवाजे खटखटाये थे? मनुष्यों ने जव तुझे जूतो से कुचला था और तेरे ऊपर थूक दिया था, तव तूने अपमान का वदला लेने के लिए क्या उपाय किया था?

उस समय यही जीव इतना साधनहीन, दीन और असहाय था कि चू तक नही कर सकता था।

इसी प्रकार अन्य एकेन्द्रिय पर्याय मे तथा विकलेन्द्रिय दशा में और पशु-पक्षियो की अवस्था में भी यह जीव अनन्त-अनन्त वार रह आया है। इन अवस्थाओं मे जो-जो भयानक कष्ट सहन करने पडे, उनका वर्णन भी कौन कर सकता है! इस जीव के उन दु:खों को सर्वज्ञ भगवान् भी पूरी तरह नही कह सकते!

मगर जब जीव पंचेन्द्रिय हुआ और मनुष्यगति में आया, विवेक और स्फुट वाणी मिली, धर्म करने की योग्यता प्राप्त हुई तो उल्टे रास्ते पर चलने लगा! अभिमान के नशे में चूर हो गया और तनिक से अपमान को भी दुस्सह समझने लगा।

क्या पृथ्वी में भी जीव है ? इस प्रश्न का उत्तर जैन शास्त्रों मे अधिकार पूर्वक दिया गया है–हां, पृथ्वो में भी जीव है। पृथ्वीकाय के जीवो की सात लाख योनिया हैं। पृथ्वीकाय मे असंख्य जीव भरे पड़े हैं और वे पृथक् पृथक् हैं। शास्त्र में कहा है :—

पुढवी चित्तमंतमक्खाया, अणेगजीवा पुढोसत्ता।

अर्थात्—सर्वज्ञ भगवान् ने केवल ज्ञान से जानकर कहा है कि पृथ्वी सचित्त है। उसमे अनेक जीव हैं और उन सब जीवो का अपना-अपना पृथक् अस्तित्व है।

मिट्टी, हड़ताल, पाषाण, भोडल, रेती, हीरा, पन्ना माणक, मोती, लोहा, सोना, चादी, जस्ता, शीशा, पीतल, ताबा आदि जब खान में होते हैं तो सब पृथ्वीकाय के जीव रूप हैं। इन जीवो के रूप में आप अनन्त बार जन्म-मरण कर चुके हैं और लगातार असख्य काल तक इस काल मे रह चुके हैं।

प्रश्न व्याकरण-सूत्र मे प्रश्न किया गया है कि जीव पृथ्वीकाय की हिंसा क्यों करता है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि विभिन्न प्रकार के लोग भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से और बहुत-से लोग बिना प्रयोजन भी पृथ्वीकाय की हिंसा करते हैं। किसान खेती करने के लिए पृथ्वी की कूटापीटी करते हैं, धरती का पेट चीरते हैं। खान खोदने का धधा करने वाले अनेक प्रयोजनो से पृथ्वी को सताते हैं, इमारतें बनाने के लिए पृथ्वी का आरम्भ-समारभ किया जाता है। यह आरम्भ समारम्भ दो प्रकार का है—सार्थक और निरर्थक।

किसी प्रयोजन विशेष से किया जाने वाला आरम्भ-समारम्भ गृहस्थ के लिए सार्थक है; परन्तु जिस आरम्भ-समारम्भ का कुछ भी प्रयोजन नही है, वह निरर्थक कहलाता है। सार्थक आरम्भ किये विना दुनियादारो का काम नही चलता, किन्तु उन्हे भी निरर्थक आरम्भ से तो वचना ही चाहिए। निरर्थक आरम्भ अनर्थदण्ड के अन्तर्गत है और उसका त्याग कर देने से जीवन निर्वाह मे कोई वाधा भी नही पड़ती। श्रावक स्थावरकाय की हिंसा का त्यागी न होकर भी उसकी मर्यादा करता है। वह प्रत्येक निरर्थक पाप से वचने की पूरी सावधानी रखता है। गृहस्थी चलाने के लिए स्थावर जीवो की उसे जो हिंसा करनी पड़ती है, उसके लिए भी उसे खेद होता है, पश्चाताप होता है। उस हिंसा को वह हिंसा मानता है। धर्म-वुद्धि से वह कदापि हिंसा नही कर सकता। हिंसा को धर्म समझ लेने पर श्रावकपन टिक नही सकता, यहा तक कि सम्यकत्व भी नही रहता। अतएव पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा को भी हिंसा समझना चाहिए और जहा तक उस हिंसा से वचाव हो सकता हो, उससे वचाव करना चाहिए।

पहले वहुत से लोग समझते थे कि वनस्पति मे जीव नहीं है। जव भारत के प्रमुख वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र वोस ने वैज्ञानिक यंत्रों से प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया तो स्वीकार करने लगे। मगर पृथ्वीकाय के विषय मे लोग अव भी शंकाग्रस्त रहते हैं और कई समझते हैं कि उसमें जीव नही है। किन्तु सर्वज्ञ भगवान् ने अपने ज्ञान मे देखकर पृथ्वी की सजीवता का प्रतिपादन किया है।

श्री आचाराग सूत्र में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। स्थूल जीव तो त्रास होने पर तड़फड़ाते हैं, धूप, छाया में आराम पाने के लिए आते-जाते हैं, कष्ट होने पर अरति हैं, इन चिन्हो से पता चल जाता है कि उनमें सुख-दुःख का अनुभव करने की शक्ति

है और यह शक्ति आत्मा मे ही हो सकती है, अतएव वे सजीव हैं। किन्तु पृथ्वीकाय आदि के एकेन्द्रिय जीवो मे यह लक्षण प्रकट रूप में दीखते नही हैं, अतएव उनमे आत्मा का अस्तित्व किस प्रकार माना जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये शास्त्र मे एक उदाहरण दिया गया है।

कल्पना कीजिए—एक मनुष्य है जो अंधा, लूला, लगडा, बहरा, गूंगा तथा हाथ-पैरो से हीन है—मृगालोढा के समान है। कोई बलवान् और तरुण पुरुष हाथ मे भाला लेकर उसे छेदन-भेदन करे, उसके मस्तक, कान, आंख, नाक, गर्दन, हाथ, छाती, पीठ, पेट, कमर, जंघा, घुटना, पैर आदि सभी अगो और उपागो को उस तीखे भाले आदि से छेदे-भेदे तो उसे वेदना होती है या नही ?

'होती है !'

यद्यपि वह पुरुष सुनता नही, देखता नही, बोल भी सकता नही। अपने गहरे दुःख को प्रकट करने का कोई साधन उसे प्राप्त नही है। फिर उसे व्यथा होती है, वेदना होती है। वह बिना चीखे-चिल्लाये चुपचाप ही उस वेदना को भीतर-भीतर अनुभव करता है, इसी प्रकार पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीव स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ही दु.ख-सुख का सवेदन करते हैं। इससे यह नही समझना चाहिए कि उन्हे दु.ख-सुख का अनुभव होता ही नही है। दूसरा उदारेहण—जैसे एक रोगी को क्लोरोफार्म सु घाकर डाक्टर उसका बड़े से बड़ा आपरेशन भी करता है परन्तु वह मरीज निश्चेष्ट,पड़ा रहता है तो क्या उसमे कष्ट अनुभव करने की शक्ति, चेतन शक्ति नही है? अवश्य है। किन्तु वह अव्यक्त दशा मे है अतः वह उसे जानता नही।

कोई-कोई जीव ऐसे होते हैं जो सुख-दु.ख को जानते हैं पर अनुभव नही करते अर्थात् भोगते नही; जैसे सिद्ध भगवान्। कोई-कोई

सुख-दुःख को भोगते हैं, परन्तु विशिष्ट रूप से जानते नहीं, जैसे एकेन्द्रिय जीव।

सज्ञी पचेन्द्रिय जीव स्पष्ट रूप में सुख दुःख को जानते भी हैं और भोगते हैं; परन्तु असंज्ञी पचेन्द्रिय तक के प्राणियों को अन्तः-करण प्राप्त नहीं होता। अतएव उन्हें स्पष्ट भान तो नहीं है, मगर सुख-दुःख का भोग उन्हें भी करना पड़ता है। जड पदार्थ ऐसे हैं जो न जानते हैं और न भोगते हैं।

एक ८०-९० वर्ष का बूढ़ा है। उसका शरीर जरा राक्षसी के आक्रमण से जर्जरित हो गया है। कमर झुक गई है। सिर सफेद हो गया है। मुंह पोपला हो चुका है। लार टपकती रहती है। आंखे अन्दर की ओर धंस गई हैं। बालक उसका उपहास करते हैं—बाबा, बूढे हो गये हो, फिर भी मरोड़ कर चलते हो! तब बाबा कहता है—बच्चो, तुम्हारे लिए भी यह समय आएगा। धीरज रक्खो। जल्दी मत करो।

एक कवि ने बूढे का कितना सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। देखिए :—

कमर पकड़ कर बूढ़ा उठता, कमर लचरका खाती है।
गांठ-गांठ में वायु फैल गई, खांसी जोर जमाती है।
बूढ़ा मांगे रोटी घर से बड़ी बहू खुणसाती है।
रूखी-सूखी खाई न जावे कुछ बहुड़िया लासी है।
खानी हो तो खाले बूढ़े मेरे हाथ में लाठी है।
सिर धुन-धुन कर बूढ़ा रोया डूबन को जगह न पाती है।
मेरे साथ के बूढे मर गये, मेरी मौत न आती है।
ऐसी जान कर चेतो भाइयो, जो थारे मन भाती है॥

यह बूढ़े का राग है। इसे सुनकर जवान खुश हुए होंगे, परन्तु

इसमें खुश होने को कोई बात नही है। यह शरीर का परिणमन है जो अनिवार्य है।

बुढापे में खाँसी और बलगम अधिक आया करता है। बूढ़ा आदमी अधिक चल फिर नही सकता, अतएव घर में ही पडा रहता है। पुत्र वधू उससे उकता जाती है। वह अपनी बच्ची से कहती है-बाबा से कहो कि दुकान पर चले जाया करे। मुझे दिन भर घूंघट काढ़ना पडता है।

बूढा मन मार कर दुकान जाता है। वहाँ उसके थूकने से लडके परेशान हो जाते हैं और कहते हैं—दादा तुम घर जाओ। तुम्हारे थूकने से दुकान खराब हो जाती है। गदगी फैलने से ग्राहक नही आते।

इस प्रकार घर से दुकान और दुकान से घर। बेचारे बूढे को कही गति नहीं। उसे कोई चाहता नही है। सब दूर रखना चाहते हैं।

किन्तु दुनिया मे सभी तरह के लोग होते हैं। सभी एक सरीखे नही हैं। अपने कर्त्तव्य को पहचानने वाले, विवेकशील पुरुष भी हैं और स्त्रिया भी हैं। वे जानते हैं कि हमारे ऊपर माता-पिता का असीम उपकार है। उन्हों ने अनेकानेक कष्ट उठाकर हमारा लालन-पालन किया है। हमारे लिए कुछ उठा नही रक्खा। आज हमारे पास जो कुछ है, वह माता-पिता की ही कृपा का फल है। उन्हों ने इस योग्य न बनाया होता तो आज हमारे पास जो है, वह कहां से आता ?

इस प्रकार विचार कर विवेकशील पुरुष और रमणियां अपने माता-पिता एवं श्वसुर-सास की हार्दिक भाव से सेवा करते हैं और मानते हैं कि हम आजीवन सेवा करके भी उनके महान् उपकार का बदला नहीं चुका सकते।

श्रीठाणाग सूत्र मे बतलाया गया है कि माता-पिता की विविध प्रकार से शारीरिक शुश्रूषा करने पर भी मनुष्य उनके ऋण से मुक्त

नही हो सकता ।

जब से लाला रगरंगीले, लागू थे सब घर के ।
गई जवानी आया बुढापा, कुत्ते बन गये दर के ।

यह स्थित नही होती है जहा सन्तान असभ्य, सस्कारहीन, विवेक-विकल और कत्तव्यविमुख होती है । ऐसे लोग ही अपने माता-पिता का वृद्धावस्था मे अपमान करते हैं । माता-पिता का तिरस्कार करने वाले वास्तव मे अपने ही पैरो पर कुठाराघात करते हैं । एक प्रकार से वे अपनी सन्तान को सबक सिखाते हैं कि जैसे हम अपने माता-पिता के साथ व्यवहार कर रहे हैं, उसी प्रकार तुम भी हमारे साथ व्यवहार करना । उनकी सन्तान उन से यह सबक सीख लेती है और तब उनका भी बुढ़ापा बिगड़ जाता है ।

माता-पिता की सेवा करना मनुष्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है, क्योंकि वर्त्तमान जीवन मे सर्वप्रथम और सर्वाधिक उपकार उन्ही का है । जो मनुष्य अपने माँ-बाप का नही हुआ, वह गुरु-गुरुणी का क्या होगा ।

खेद है कि कई जगह वृद्धो का यथोचित सन्मान नही किया जाता किसी के लडके जब अलग-अलग हो जाते हैं तो बूढे बाप के लिए बारी बाँध दी जाती है कि आज एक के घर जीमना है और कल दूसरे के घर । इस प्रकार की बारी बांधना उसका घोर अपमान है । अपमान सहन करके भी बूढा किसी तरह उदर-निर्वाह करता है, परन्तु कोई उसकी सेवा नही करता । सेवा करे तो कौन करे ? बूढा अनेक लडको का बाप जो ठहरा ! बड़ा लड़का सेवा नही करता, क्योंकि वह छोटे लडके का भी बाप है और छोटा भी सेवा नही करता क्योंकि वह बडे का भी बाप है ! यह कितनी अनुदारता है ! कितनी तुच्छता, कितनी हीनता और कितनी कृतघ्नता है । ऐसी सन्तान होने की अपेक्षा न होना ही अच्छा ।

नन्दी सूत्र मे एक उदाहरण आया है । चार ब्राह्मणों के बीच एक गाय का दान दिया किसी जजमान ने । पहले दिन वह गाय जिस

ब्राह्मण के घर रही उसने दूध दुह लिया, मगर घास पानी नही दिया। उसने सोचा-कल यह गाय दूसरे ब्राह्मण के घर चली जायगी। वही इसका दूध दुहेगा। ऐसी हालत मे मेरे घास-पानी का लाभ मुझे तो मिलेगा नही, दूसरे को मिलेगा, तो मैं क्यो वृथा घास खिलाऊं और पानी पिलाऊ ! यह सोच कर उसने बेचारी गाय को उपवास करवा दिया।

दूसरे दिन गाय दूसरे ब्राह्मण के घर पहुचा दी गई। उसने भी दूध दुह लिया, मगर घास-पानी के विषय में वैसा ही विचार किया जैसा पहले ने किया था। इस प्रकार दूसरे दिन भी गाय भूखी-प्यासी रही।

तीसरे दिन तीसरे ब्राह्मण के घर और चौथे दिन चौथे के घर पहुचने पर भी गाय पर वही बीती। असहाय गाय कब तक भूखी-प्यासी रह कर दूध देती और जिन्दा रहती ? आखिर शीघ्र ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

अनेक बार वूढे मा-बाप की भी ऐसी ही दशा होती है। लडके पिता की सम्पत्ति तो हस्तगत करना चाहते हैं, परन्तु सेवा करने से जी चुराते हैं। यह मनुष्यता का बड़े से बडा कलक है। जो अपने माता-पिता की श्रद्धा-भक्ति के साथ सेवा नही करता, समझना चाहिये कि उसमे मानवता ही नही है।

तो जैसे वूढा मनुष्य असहाय और साधनहीन हो जाने के कारण कुछ बोल नही सकता, शिकायत नही कर सकता, उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव पीडा पहुचाने वालो की शिकायत नही कर सकते। उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नही कर सकते। उन्हें चुपचाप वह व्यथा सह लेनी पड़ती है।

जिन्होने पृथ्वीकाय की सचेतनता को समझ लिया है उनका कर्त्तव्य है कि वे उसे आघात पहुचाने से बचे। जो पूरी तरह नही बच सकते, उन्हे कम से कम निरर्थक हिंसा से तो दूर रहना ही चाहिए। साधु-

साध्वी इसी कारण पृथ्वीकाय आदि के संघटन स्पर्श-से ही बचते हैं। ज्ञानियों ने जाना है कि इन जीवों को स्पर्श-मात्र से ही वेदना का अनुभव होता है।

कई लोग यह कुतर्क करते हैं कि अग्नि के ऊपर रक्खे हुए पात्र को हटा कर यदि साधु को आहार दिया जाय तो क्या हानि है? अग्नि पर जो बोझ पडा था, उसके हटने से अग्नि को राहत ही मिलेगी। मगर ऐसे लोगों की बातो मे आना उचित नही है। अग्नि के ऊपर से पात्र हटाने में जो हिलन-डुलन होती है, उससे असख्य जीवो की हिंसा हो जाती है।

बाइयो! इस विषय को ध्यान से सुनो और समझो। जहां अचित्त पृथ्वी से काम चल सकता हो वहा सचित्त का उपयोग मत करो। कितनीक बाइया सचित्त पृथ्वी से बासन माजती हैं और उसी से हाथ धोती हैं। किन्तु यह काम अगर अचित्त पृथ्वी से हो सकता है तो सचित्त का उपयोग करके वृथा कर्मबध करने से क्या लाभ है? तपस्या करती हो, यह अच्छी बात है, मगर तपस्या के साथ विवेक भी होना चाहिए। विवेक के साथ कार्य करोगी तो तपस्या अधिक लाभदायक होगी। यो भी तप की अपेक्षा विवेक अधिक हितकर है—

नाम जाप सौ दु:ख रहे, चुप्पी हरे हजार।
गुरु चरण लख दु ख हरे, सब दु ख हरे विचार॥

चुप्पी अर्थात् मौनसाधना भी लाभदायक है। गुरु चरणों की उपासना उससे भी अधिक लाभप्रद है, पर विवेक तो समस्त दु खों की परमौषध है। तपस्या को खीर समझो तो विवेक शक्कर है।

जिस बाई मे विवेक होगा वह समझ सकेगी कि सचित्त मिट्टी से जो काम लिया जाता है, वह राख से भी हो सकता है। मिट्टी से राख लौकिक दृष्टि से शुद्ध भी है, क्योकि मिट्टी पर तो कुत्ता आदि

मल-मूत्र का त्याग करते हैं, पर राख तपस्विनी है। वह प्रासुक है। साध्-साध्वी भी उसे उपयोग में लाते हैं। साधु-साध्वी भगवान के बड़े वेटा-वेटी हैं तो श्रावक-श्राविका छोटे बेटा-बेटी हैं।

तो आशय यह है कि जहां तक संभव हो. पृथ्वीकाय की हिंसा से वचना चाहिए। चने की वराबर मिट्टी मे असख्य जीव होते हैं। अतएव अगर गुरु वचन पर और भगवान् के वचन पर विश्वास है तो जहा राख स काम चल सकता हो वहां सचित्त मिट्टी से काम मत लो।

जो मनुष्य विवेक से काम नही लेता और निरर्थक अथवा सार्थक हिंसा मे रत रहता है, उसे दीर्घ काल तक गतिपरिणाम में परिणत होना पड़ता है। गति परिणाम भी अनेक प्रकार का है, अतएव ऐसे जीव को कभी नारक, कभी पशु, कभी पक्षी, कभी जलचर, कभी स्थलचर, कभी कीड़ा-मकोड़ा आदि बनना पड़ता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस गति परिणाम का कारण कर्म है। जब तक कर्म का सयोग है, गतिपरिणमन होता ही रहता है। इससे मुक्त होने का उपाय कर्म से मुक्त होना है।

जीव के मूल परिणमन दस वतलाये गये हैं। उनका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

(१) गतिपरिणाम—चार प्रकार की गतियो में परिणत होना। जिनका कथन पहले किया जा चुका है।

(२) इन्द्रियपरिणमन—यह परिणमन भी कर्मसंयोग से होता है। यह जीव कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, कभी चौइन्द्रिय और कभी पंचेन्द्रिय रूप होता है। इसी को इन्द्रिय परिणमन कहते हैं। इसके पॉच भेद हैं।

(३) कषाय परिणमन—चार प्रकार के कषायों से मुक्त होना। यह चार प्रकार का है।

(४) लेश्यापरिणमन—कषाय से रंगे हुए योगों के व्यापार को लेश्या कहते हैं। लेश्या के मुख्य छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या। यह जीव कर्मोदय के वशीभूत कभी किसी और कभी किसी लेश्या के रूप में परिणत होता है। अतएव लेश्यापरिणमन छह प्रकार का है।

(५) योग—मन, वचन और काम के निमित्त से आत्म-प्रदेशो में जो स्पन्दन होता है, वह योग है। यह जीव इन तीनों योगों में परिणत होता है, अतएव योगपरिणमन के तीन भेद हैं। योग कर्मो को खींचता है और उनके वध का कारण है।

(६-७) उपयोग-ज्ञान—परिणाम—आत्मा के दर्शन और ज्ञान रूप गुण को उपयोग कहते हैं। संसारी जीव कभी अज्ञानरूप और कभी ज्ञानरूप परिणमन करता है। यद्यपि उपयोग के मूल भेद दो हैं—दर्शन और ज्ञान। तथापि दर्शन चार प्रकार का और ज्ञान आठ प्रकार का है, जिसमें मतिज्ञान आदि पाच ज्ञान और मतिअज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान रूप तीन अज्ञानों का समावेश है। यह परिणमन भी कर्मसापेक्ष ही है, क्योंकि यह कर्म के क्षयोपशय से होते हैं। इनमें केवलदर्शन और केवलज्ञान क्षायिक परिणमन हैं।

(८) दर्शन परिणमन के तीन भेद हैं—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और मिश्चदर्शन।

(९) चारित्रपरिणाम—सात प्रकार का है। जीव इनमें भी परिणमन करता है।

(१०) वेदपरिणाम—वेद तीन प्रकार के हैं—पुरुषवेद, स्त्रीवेद, और नपुंसकवेद। ससारी जीव विभिन्न कालो मे इन वेदों के रूप

में परिणमन करके कभी स्त्रीवेदी, कभी पुरुषवेदी और कभी नपुंसक-वेदी बनता है।

यह जीव के दस परिणमन हैं। इनके उत्तर भेदों की संख्या ४५ होती है और विस्तार मे जाने पर असख्यात भेद हो सकते हैं।

जब जीव इन विविध परिणमनो से अतीत, अगति, अतिन्द्रिय, अकषायी, अलेश्य, अयोगी तथा अवेदी हो जाता है और अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, तभी उसे वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है। इसके लिए आत्मतत्त्व के परिज्ञान की आवश्यकता है। जो आत्मा को जानते हैं, वही सुखी होते हैं।

राजकोट,
४-८-५४

: ५ :

एकेन्द्रिय जीव

वीरः सवसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिता,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम।
वीरात्तीर्थमिद प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित सज्जनो और सन्नारियो !

कल आपको जीव की विभिन्न परिणतियो के विषय मे बतलाते हुये पृथ्वी में चैतन्य है, यह बात उदाहरणपूर्वक कही गई थी। यह भी बतलाया था कि पृथ्वीकाय के जीव हमारी ही तरह सुख-दुःख का अनुभव करते हैं अन्तर है तो यही कि हम उसे व्यक्त कर सकते हैं और पृथ्वीकाय के जीवो को व्यक्त करने का कोई साधन प्राप्त नही है। उनमें भी हमारी जैसी ही असख्यात प्रदेशी आत्मा विद्यमान है, इसमें शका करने की आवश्यकता नही है। आज यह बतलाने का प्रयत्न करूंगा कि पृथ्वी मे जीव होने का क्या कारण है ?

जब तक लोहा, सोना, चांदी आदि खान में रहते हैं, तब तक वे सचित्त हैं—अर्थात् सजीव हैं—चेतनावंत हैं और बाहर निकलने पर अग्नि आदि का संसर्ग पाकर अचित्त हो जाते हैं। परिशोधित सोना, चांदी, आदि पृथ्वीकाय के मुकेल (त्यागे हुए) शरीर हैं, कलेवर हैं। उनमे से स्वयं या शस्त्र के प्रयोग से जीव चव गया है—उन्हें त्याग गया है।

यह तो आप जानते ही हैं कि शरीर चेतन के ही होता है। जड़ पदार्थ शरीरवान् नही होता। वह शरीर हो सकता है, शरीरवान् नही हो सकता। शास्त्र में पांच प्रकार के शरीर कहे गये हैं—(१) औदारिक (२) वैक्रियक (३) आहारक (४) तैजस और (५) कार्मण। इनमे जो अन्तर है वह उनके स्वरूप से स्पष्ट हो जाएगा—

(१) औदारिक—हाड़ मास आदि सप्त धातुओ का बना शरीर औदारिक कहलाता है। उदार का अर्थ यहाँ स्थूल है। स्थूल पुदगलों से बना हुआ होने के कारण यह शरीर हम लोगों को भी दिखाई देता है। मनुष्यो और तिर्यंचो का मूल शरीर औदारिक ही होता है।

(२) वैक्रियक शरीर—जिस शरीर में विविध प्रकार की क्रियाएं हो सकती हैं, अर्थात् जो एक से अनेक रूप धारण कर सकता है, कभी छोटा और कभी बड़ा बन सकता है, वह वैक्रियक शरीर कहलाता है। यह देवो और नारक जीवो को जन्म से ही प्राप्त होता है। मनुष्यो और तिर्यंचों को लब्धि के निमित्त से प्राप्त होता है। यह शरीर औदारिक के समान नजर भी आसकता है इसके स्थूल रूप को यदि सूक्ष्म कर लिया जाय तो चक्षुगोचर नही होता, किन्तु स्थूल रूप धारण कर लेने पर चक्षुगोचर हो सकता है।

(३) आहारक शरीर—यह शरीर न सब जीवो को प्राप्त होता है और न एक जाति के ही सब जीवों को प्राप्त होता है। जो महामुनि

चौदह पूर्वो के ज्ञाता होते हैं, उन्हे तपस्या के प्रबल प्रभाव से इसकी प्राप्ति होती है। अनेक प्रकार की लब्धियों में आहारक नामक भी एक लब्धि है। उसी लब्धि से इस शरीर का निर्माण होता है। स्फटिक मणि के समान स्वच्छ और श्वेत पुदगलों से बनता है। जब चौदह पूर्वों के वेत्ता मुनिराज को किसी सूक्ष्म और दुरधिगम तत्त्व को जानने की इच्छा होती है और केवली भगवान् सन्निकट में नही होते तो वे आहारकलब्धि का प्रयोग करके इस शरीर का निर्माण करते हैं। यह शरीर एक हाथ का पुतला जैसा होता है। केवली भगवान् के समीप जाने पर मुनिराजकी शंका का समाधान हो जाता है। वह पुतला वापिस लौट कर मुनिराज के मूल शरीर में समा जाता है।

(४) तैजसशरीर—यह तेजोमय शरीर संसार के सभी जीवों को प्राप्त है। कोई जीव ऐसा नही जिसे यह शरीर न हो। ग्रहण किये हुए आहार का पाचन करना इस शरीर का काम है।

तैजसशरीर अनादिकाल से सब जीवो को प्राप्त है, परन्तु किसी-किसी को तैजसलब्धि से विशेष प्रकार का तैजसशरीर भी प्राप्त होता है, जिससे निग्रह-अनुग्रह किया जा सकता है। गोशालक को जो लब्धि जनित तैजस शरीर प्राप्त था। उसने उसका प्रयोग करके भगवान् महावीर स्वामी के दो मुनिशिष्यो को भस्म कर दिया था। भगवान् के ऊपर भी तेजोलब्धि का प्रयोग किया था, जिससे उनके शरीर मे दाह उत्पन्न हो गया था। यह निग्रह करना कहलाता हैं। भगवान् महावीर ने तेजोलब्धि के द्वारा गोशालक के प्राणो की रक्षा की थी।

अभिप्राय यह है कि तैजसशरीर अनादि भी है और आदिमान् भी है। अनादिकालीन तैजसशरीर उस समय भी विद्यमान रहता है जिस समय जीव मृत्यु को प्राप्त होकर नवीन शरीर को धारण करने के लिये दूसरी जगह जाता है, अर्थात् विग्रहगति में होता है।

५) कामणशरीर—यह शरीर कर्मों का खजाना है। इसे कर्मों का लेटर बोक्स समझ लीजिए। हिन्दी में इसे 'पत्रपेटी' कहते हैं। पत्रपेटी में हानि-लाभ, खुशी या दिलगीरी आदि की जैसी डाक डाली जाएगी, वैसी ही उसमें से निकलेगी। पहले उसमे पत्र डाले जाते हैं, फिर जब उनके निकलने का समय आता है तो वैसे ही निकलते हैं। इसी प्रकार जीव जैसे शुभ या अशुभ कर्म करता है, वे कार्मणशरीर के रूप में जमा होते रहते हैं और जब उनका उदय आता है तो अपने-अपने स्वभाव के अनुसार फल प्रदान करते हैं।

यह शरीर भी अनादिकाल से समस्त ससारी जीवो को प्राप्त है। यह पूर्वोक्त चारो शरीरों से अधिक सूक्ष्म है और यही उनका कारण है।

यह पाँचों शरीर विभिन्न जीवों मे एक साथ पाये जा सकते हैं, परन्तु एक जीव में पाँचो एक साथ नही हो सकते। एक जीव में एक साथ कम से कम दो शरीर तेजस तथा कार्मण पाते हैं। ये दो शरीर जब जीव मर कर दूसरी जोनि में जाता है जब तक उसने भावी जोनि मे नया शरीर धारण नही किया उस समय पाते हैं और अधिक से अधिक एक जीव मे चार शरीर हो सकते हैं। वैक्रियक और आहारक शरीर दोनों एक साथ नही होते। अतएव जब वैक्रियकशरीर होता है तो आहारक नही होता और जब आहारक होता है तो वैक्रिय नही होता।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक आदि जिस क्रम से शरीरों का नामोल्लेख किया गया है, उसी क्रम से वे क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होते गये हैं। औदारिक से वैक्रियक, वैक्रियक से आहारक, आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण शरीर अधिक सूक्ष्म है। परन्तु यह न समझिए कि सूक्ष्म होने के कारण उनमें पुद्गलद्रव्य,

जिनसे शरीरों का निर्माण होता है कम है। औदारिक शरीर जितने पुद्गलों से बनता है उनकी अपेक्षा असख्यातगुणा अधिक पुद्गलों से वैक्रिय शरीर बनता है और उनसे भी असंख्यातगुणा पुद्गलों से आहारक का निर्माण होता है। आहारक की अपेक्षा तैजस शरीर मे अनन्ततगुणा अधिक पुद्गलद्रव्य होते हैं और तैजस की अपेक्षा कार्मणशरीर में अनन्तगुण अधिक पुद्गलद्रव्य हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक—बहुत अधिक पुद्गलों से बनने पर भी क्रमश. सूक्ष्म-सूक्ष्मतर हैं।

प्रश्न हो सकता है कि जब आगे-आगे के शरीरों में अधिक-अधिक पुद्गल हैं तो वे उसी हिसाव से अधिकाधिक स्थूल होने चाहिएं। परन्तु आप उन्हें सूक्ष्म और सूक्ष्मतर कह रहे हैं। इस उलटी व्यवस्था का क्या कारण है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अगर पांचों शरीर एक ही प्रकार के पुद्गलों से बने होते तो ऐसा होता अर्थात् जिस शरीर में अधिक पुद्गलपरमाणु हैं, वह शरीर अधिक स्थूल होता। परन्तु सब शरीर एक ही जाति के पुद्गलो से नही बने हैं। एक जाति के पुद्गलो से बने होते तो उनके पांच भेद करने की आवश्यकता ही न होती।

बात यह है कि सब पुद्गल एक ही जाति के नही हैं। उनमें कई जातियाँ हैं जिन्हें जैनपरिभाषा में 'वर्गणा' कहते हैं। औदारिकशरीर औदारिकवर्गणा के पुद्गलों मे बनता है, वैक्रियशरीर वैक्रियावर्गणा के पुद्गलों से आहारकशरीर आहारकवर्गणा के प्रद्गलों से, तैजसशरीर तैजसवर्गणा के पुद्गलों से और कार्मणशरीर कार्मणवर्गणा के पुद्गलो से बनता है। यह पाचों वर्गणाएं उत्तरोत्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर हैं। इस कारण इनसे बने हुए शरीर अधिक प्रदेश वाले होते हुए भी सूक्ष्म हैं।

मनुष्यों और तिर्यंचों को जन्मत. औदारिक शरीर ही प्राप्त होता है। तपश्चर्याजनित लब्धि से मनुष्य को वैक्रियक और आहारक

शरीर भी प्राप्त हो सकते है। आहारक शरीर संयमी मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी अन्य गति वाले जीव को प्राप्त नही होता।

वैक्रियशरीर जन्मतः सभी देवों और नारकों को प्राप्त होता है और तैजस तथा कार्मण शरीर जैसा कि पहले कहा है, सब ससारी जीवो को होता है।

लोक में साधारणतया ऐसा व्यवहार होता है कि 'हमें जीव दिखाई दे रहा है।' परन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह कथन सत्य नहीं है। जीव अमूर्तिक होने से चक्षु का विषय नही हो सकता। हम सिर्फ शरीर को ही देख पाते हैं, जीव-आत्मा को नही। यह सिद्धान्त सभी पर लागू होता है, चाहे कोई एकेन्द्रिय जीव हो अथवा पंचेन्द्रिय जीव हो।

शरीर से होने वाली वाह्य क्रियाओ को देख कर हम अनुमान प्रमाण से आत्मा का अस्तित्व जानते हैं। कार्य से कारण का अनुमान होता ही है। धुआ देखकर अग्नि का, हस को देख कर पानी का और विशिष्ट प्रकार के शीत पवन से वर्षा का अनुमान लोक मे प्रसिद्ध है। इसी प्रकार आत्मा के कार्यों को देखकर आत्मा का अनुमान करना भी उचित ही है।

इसका अभिप्राय यह न समझ लीजिए कि आत्मा का प्रत्यक्ष होता ही नही है। इन्द्रियो से प्रत्यक्ष न होने पर भी 'मैं हूं, मैं सुखी हू, मैं दुखी हू, मैं ज्ञाता हू' इत्यादि रूप से आत्मा का स्वसवेदनप्रत्यक्ष अवश्य होता है। केवल ज्ञानी प्रभु अरूपी पदार्थो को भी स्पष्ट रूप से जानते हैं, अतएव आत्मा भी उनके ज्ञान का विषय होता है। हा, हमछद्मस्थ जैसे रूपी स्थूल पदार्थों को आखो से देख लेते हैं, वैसे आत्मा को नही देख सकते।

मैं आपकी चैतन्यभावी क्रियाओं को देखता हू और यह भी जानता हू कि जब तक आत्मा होती है, तब तक अनेक प्रकार की

जैसी क्रियाएं होती हैं, वैसी मृतकशरीर में नहीं होती। जीवित प्राणी स्पर्श का अनुभव करता है। कांटा या कोई शस्त्र लग जाता है तो कराहता है, विच्छू के डंक का स्पर्श होने पर चिल्लाता है और सुखद स्पर्श पाकर आह्लाद का अनुभव करता है और उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। जिह्वा के साथ विभिन्न प्रकार के रसो का संसर्ग होने पर सुख-दुःख मानता है। दुर्गंध का अनुभव करके नाक सिकोडता है। नाना प्रकार के रूपों को देख कर अपनी प्रसन्नता-अप्रसन्नता प्रकट करता है। सुन्दर और मनोज्ञ रूप की ओर आकर्षित होता है, उसे देखने के लिए दौड़ा जाता है। चित्रपट पर जब कोई मनोहर दृश्य देखता है तो किलकारियाँ मारता है। अनिष्ट रूप को देखकर घृणा से मुंह फेर लेता है। मनोहर शब्द सगीत आदि सुनकर बाग-बाग हो उठता है और गालियां सुनकर आंखे लाल-लाल कर लेता है, एक के बदले पाच गालिया सुनाने को तैयार हो जाता है। नाना प्रकार की कामनाओं मे प्रेरित हो कर उनकी पूर्त्ति के लिए प्रयत्न करता है। भूतकाल सबन्धी घटनाओं के विषय में सोचता है और भविष्य के लिए योजनाएं बनाता है और भावी सुख के लिए वर्त्तमान के सुखों का परित्याग कर देता है।

क्या यह सब विशेषताएं मृतक शरीर में पाई जाती हैं ? मेज, कुर्सी, कलम, दवात आदि में हैं ?

'नहीं'

तो फिर सोचना चाहिए कि इस महान् अन्तर का क्या कारण है ? आप व्याख्यान सुनने आये हैं तो आपके घर के बर्त्तन-भांडे और फर्नीचर आदि पदार्थ क्यों नहीं चले आये ? आप कभी दिल बहलाने के लिए उन चीजो से बातें क्यो नहो करते ? वे आपसे कभी कुछ पूछताछ क्यों नहीं करते ?

इन और इन जैसे अन्य प्रश्नों पर आप गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि जड़ और चेतन की क्रियाओं में

महान् अन्तर है । मगर असली प्रश्न यह है कि इस अन्तर का क्या कारण है ? एक जड़ और दूसरा चेतन क्यों कहलाता है ?

इस प्रश्न के उत्तर से ही आप को आत्मा के अस्तित्व का पता लग जाएगा । जिस शरीर में आत्मा विद्यमान है, उसकी क्रियाएं अलग तरह की होती हैं और जिसमें आत्मा नही है उसकी क्रियाएं अन्य प्रकार की होती हैं । दोनो का यह भेद आत्मा के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण है ।

हमारी तरह ही चलता-फिरता, देखता-सुनता एक मनुष्य देखते-देखते स्तब्ध रह जाता है । उसमें सजीव जैसी कोई क्रिया नही रहती । इसका कारण यही है कि उस शरीर में अब आत्मा नही रहा जो पहले था । वस्तुतः आत्मा ही शारीरिक और मानसिक क्रियाओ को वेग और मोड देता है । जब आत्मा नही रहता तो आत्मभावी क्रियाए भी नही रहती । इस प्रकार जो विचार करते हैं, उन्हें इन्द्रियगम्य न होने पर भी आत्मा का अस्तित्व समझने में कोई कठिनाई नही हो सकती ।

लोक में सैकड़ों चीजें ऐसी हैं जो इन्द्रियगम्य न होने पर भी विद्यमान हैं और उनकी विद्यमानता में किसी को सन्देह नही होता । विद्युत् में दाहक—संहारक शक्ति है, इस बात को कौन अस्वीकार करता है ? पर क्या वह शक्ति आंखों से दिखाई देती है ? उसके न दिखाई देने पर भी उसके कार्य को देख कर हम स्वीकार कर लेते हैं । इसी प्रकार आत्मा के कार्यों को देख कर शरीर में आत्मा की सत्ता को जानते हैं ।

जैसा कि अभी बतलाया था, शरीर पांच प्रकार के हैं और उनमें जो कामण शरीर है, वह कर्मो का खजाना है । जीव जैसे शुभ या अशुभ कार्य करता है, वह कार्मण शरीर के रूप में जमा होते रहते हैं ।

मुसलमानों के मत में माना गया है कि दो फरिश्ते खुदा ने मुकर्रर कर रक्खे हैं जो सब जीवो के भले-बुरे कामों का लेखा-जोखा रखते हैं। सनातनी आदिको की धारणा है कि यह काम ईश्वर ने चित्रगुप्त जी के जिम्मे सौप रक्खा है। वह गुप्त रूप से ससार के सभी जीवो के शुभाशुभ कर्मों का हिसाब रखता है।

बड़े सेठ की पेढ़ी पर कई गुमाश्ते रहते हैं और वे उसके आय व्यय का हिसाब रखते हैं। उन्हे तो कुछ आराम भी मिल जाता है। मगर चित्रगुप्त जी को, न रात में और न दिन में आराम मिलता है। उनका काम निरन्तर चालू ही रहता है। ससार में जीव अनन्त हैं और कभी ऐसा अवसर नही आता कि सब एक साथ थोड़ी देर के लिए भी काम बंद करके हडताल कर दे। बेचारे चित्रगुप्त जी को सांस लेने की भी फुर्सत नही मिलती होगी!

भारतवर्ष की राष्ट्रीय सरकार मजदूरो और मुनीमो को राहत पहुचाने के लिए अनेक प्रकार के नये-नये कानून बना रही है। उनके कार्य का समय मुकर्रर कर दिया गया है और कोई उससे अधिक समय तक उनसे काम नही ले सकता। शेष समय में उन्हें छुट्टी है। जो चाहे सो करे। मगर चित्रगुप्त जी को फुर्सत का नाम नही! उनका सेठ—ईश्वर—सरकार जितना दयालु भी मालूम नही होता! बेचारे को सदैव जोते रहता है!

लेकिन चित्रगुप्त जी भी अद्भुत व्यक्ति हैं। वे रहते होंगे कहीं एक स्थान पर, मगर चौदह राजू लोक में सर्वत्र होने वाले सभी जीवो का हिसाब रख लेते हैं! कैसे रख सकते हैं? अल्पज्ञ जीव अनन्तानन्त जीवों के मानसिक, वाचिक और कायिक कार्यों को किस प्रकार जान सकता है? कैसे एक साथ लिख सकता है? मगर ऐसे प्रश्न नही पूछने चाहिएं, क्योंकि इनका उत्तर कुछ है ही नही। जिन प्रश्नों का उत्तर न हो, उन्हे पूछने की आवश्यकता नही।

तात्पर्य यह है कि जीव अपने पूर्वकृत कर्मो का जो शुभ या अशुभ फल भोगता है, वह किस प्रकार से भोगता है, यह बात उन लोगों की समझ मे नही आई। इसी कारण कुछ तरीके घड लिये गये हैं। परन्तु जैन धर्म के अनुसार इस विषय में किसी दूसरे का दखल नही है। जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उनका फल भोगता है।

प्रश्न हो सकता है कि शुभ कर्मों का फल भोगने की इच्छा तो सबको होती है, मगर अशुभ कर्मों का-पापों का फल कोई नही भोगना चाहता। कौन चाहेगा कि मैं नरक में चला जाऊ? अगर कर्मफल भोगने मे जीव स्वतत्र होता तो वह भोगता ही नही। ऐसी स्थिति मे फलदाता कोई अन्य मानना ही उचित है।

किन्तु यह आशका और इससे निकलने वाला निष्कर्ष निराधार है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि मनुष्य अपने कर्मो का फल न चाहता हुआ भी स्वय, कर्म की प्रेरणा से भोगता है। शराब पीने वाला होशहवास खोकर नालियों में पड़ता है। क्या शराब पीने का फल देने के लिए कोई दूसरा आता है? मिर्ची खाने से जीभ जलने लगती है तो क्या जीभ को जलाने के लिए ईश्वर दौड़ा आता है? अपथ्य आहार करने वाले को बीमारी हो जाती है। क्या बीमार करने के लिए कोई फरिश्ता आया था? नही, यह सब फल मनुष्य को अपने-अपने कर्मो की प्रेरणा से स्वय भोगने पड़ते हैं। शराब पीकर कोई अपनी दुर्दशा नही चाहता फिर भी उसकी दुर्दशा होती ही है। मिर्ची खाने वाला चाहे या न चाहे, उसकी जीभ जलेगी ही। अपथ्य आहार-विहार करने वाला रोगी नही बनना चाहता, मगर उसके न चाहने से क्या होता है! उसका वह आहार-विहार ही उसे रोगी बनाता है। तात्पर्य यह है कि जीव अपने कर्म के प्रभाव से तदनुकूल शुभ या अशुभ फल स्वय भोगता है। कर्म में फल देने की शक्ति है। कर्म जड़ होने से फल नही दे सकता, यह समझना

भ्रमपूर्ण है। जड़ में चेतन भावी शक्तियां नही होतीं, पर उसकी अपनी शक्तियां तो होती ही हैं। जड में भी अचिन्त्य सामर्थ्य है। भौतिकविज्ञान जब इतना विकसित हो गया है, तब जड़ पदार्थों की शक्ति को बतलाने की आवश्यकता ही नही रह गई है। जड़ धर्म चेतन का सम्पर्क पाकर अनेक प्रकार के फल प्रदान करने में समर्थ हो जाते हैं।

सज्जनो ! कर्मों का भण्डार यह कार्मण शरीर ही शुभाशुभ कर्मों का फल प्रदान करता है। आप लोग थोकडों से कार्मण शरीर को जानते तो हो, परन्तु उसका ठीक-ठीक विश्लेषण नही जानते। वास्तव मे सब कर्मों का केन्द्र कार्मण शरीर ही है। मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओ का चक्र निरन्तर ही चलता रहता है। इनकी नोंध कार्मणशरीर ही लेता है। चित्रगुप्त कोई व्यक्ति नही है, न कोई देव है और न मनुष्य है। यह कार्मणशरीर ही वास्तव में चित्रगुप्त है।

कार्मणशरीर को चित्रगुप्त कैसे कहा जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह जीवों के कर्मों के चित्र गुप्त रूप से लेता रहता है।

सरकार के सी० आई० डी० अर्थात् गुप्तचर विभाग से तो आप परिचित हैं। गुप्तचर विभाग के पुलिसमैन चोरी आदि अपराध करने वालों का पीछा करते हैं, परन्तु इस ढंग से करते हैं कि जिसका पीछा किया जाता है उसे पता नही चलता। वे पुलिस की वर्दी पहन कर उसके साथ नही चलते, वरन् छद्मवेष में चलते हैं और संदिग्ध व्यक्ति की प्रत्येक हरकत को नोट करते रहते हैं। वह बराबर ध्यान रखते हैं कि—यह व्यक्ति कहां जाता है, किससे बात करता है इसे कौन आश्रय देता है, आदि-आदि।

लौकिक जानकारी की बाते भी कभी-कभी लोकोत्तर जानकारी के क्षेत्र में उपयोगी साबित होती हैं लौकिक घटनाए इतनी स्पष्ट होती हैं कि उनके आधार से हम लोकोत्तर घटनाओं को सरलता से समझ लेते हैं।

हां, तो राज्य का गुप्तचर इस प्रकार काम करता है कि चोर को मालूम न हो और उसका सारा भेद उसे मालूम हो जाय। किन्तु गुप्तचर अपराधी की शारीरिक क्रियाओं की तोंध ले सकता हैं, मानसिक क्रियाओ की नोंध लेने की शक्ति उसमें नही हैं। किन्तु कार्मणशरीर तो वह असाधारण कैमरा है जिसमें जीव की सभी शारीरिक वाचनिक और मानसिक क्रियाओं के हूबहू चित्र अकित होते रहते हैं और जो दिन-रात सदैव जीव के साथ लगा रहता है।

कुछ दिन पहले अम्बाला छावनी से प्रकाशित होने वाले एक अखबार का कार्यालय देखा था। वहां कलकत्ता आदि के समाचार स्वयं यंत्र द्वारा टाइप हो रहे थे। आधुनिक वैज्ञानिकों ने ऐसे आविष्कार किये हैं, परन्तु कार्मणशरीर की क्षमता की समता करने वाला कोई यंत्र नहीं है। वह एकदम अपूर्व, अद्भुत और अलौकिक है।

तेरहवें गुणस्थान तक मन, वचन और काम का योग चलता ही रहता है। वहां तक बंध, उदय और निर्जरा तीनों हैं। चौदहवें गुणस्थान में यह दफ्तरी कार्य बन्द होता है। वहां कोई नयी क्रिया नहीं होती। वहां न भूख है न प्यास है और न उसकी पूर्ति के लिए कोई प्रयास है। इस गुणस्थान में जीव कोई नया कर्ज नही लेता, सिर्फ पुराना कुछ कर्ज चुकाना ही शेष रहता है। वहां कर्मबंध के कारणों का सर्वथा अभाव हो जाता है। कषाय और योग, यही मूल दो बंध के निमित्त हैं। कषाय का उदय दसवें गुणस्थान तक ही रहता है और योग की सत्ता तेरहवें गुणस्थान तक। चौदहवें गुणस्थान में इन दोनों का अभाव हो जाने से कर्मबंध का भी अभाव हो जाता है।

मुझे प्रसन्नता होगी। शास्त्रीय बातों को समझना-समझाना कुछ कठिन होता है। आपके देश के खाखरे और गाठिया जल्दी हजम हो जाते हैं, मगर बादाम का हलुवा बिरले हो हजम कर पाते हैं।

साधारण बाते तो खाखरा, गांठिया या चावल के समान हैं जिनको हजम होते देर नही लगती। चोरवा कहता है—

चावल कहे मेरा उजला खाना,
मेरे भरोसे कही मत जाना।

चावल सफेदपोश है, मगर उसमें दम कुछ भी नही है। बात की बात मे पेट भर जाता, परन्तु एक दो बार लघुशका होते ही हजम हो जाता है क्योकि चावलो मे तरल पदार्थ अधिक होता है। मगर जो बादाम का हलुवा हजम कर लेगा अर्थात् सिद्धान्त के गम्भीर विषयो की जानकारी प्राप्त कर लेगा, उसकी हड्डियो मे ताकत आ जाएगी। उसे प्रतिवादी परास्त नही कर सकेगा, क्योकि उसके रोम-रोम में प्रभुवाणी जो भरी पड़ी है।

कल दोपहर मे, भगवती जी के वाचन मे तु गिया नगरी के श्रावको का जिक्र आया था। वे जीव, अजीव आदि नव तत्त्वो के ज्ञाता थे और देवो की भी सहायता की अपेक्षा नही रखते थे। देवताओं का समूह भी उन्हें धर्म से विचलित नही कर सकता था। ऐसे तत्वज्ञ और दृढधर्मी वे श्रावक थे। उन्होने चावल खाकर शरीर नही बनाया था। उनका धर्म जीवन रूपी शरीर भगवान् द्वारा कथित तत्व के उपदेश को सुनकर दृढ़ बना था। सिद्धान्त के मर्म को उन्होने समझा था।

मगर आज के अधिकांश श्रावक कहलाने वाले लोग लोभ-लालच में फंस जाते हैं। अगर उनकी अन्तरात्मा में निश्चल श्रद्धा हो तो वे किसी भी प्रकार के प्रलोभन में नही फंस सकते। समस्त धर्म-

क्रियाएं श्रद्धा की शुद्धि पर निर्भर हैं। यही कारण है कि जहां भी मेरा चातुर्मास होता है, शास्त्रीय विषयों पर विशेष रूप से बल देने का ध्यान रखा जाता है।

कार्मणशरीर का सदा के लिए यदि पूरी तरह अन्त करना है तो आपको सवप्रथम प्रगाढ श्रद्धा प्राप्त करनी होगी और धर्मतत्त्व को समझे विना श्रद्धा में प्रगाढ़ता नही आ सकती। जो जिस तत्त्व को समीचान रूप से समझेगा ही नही, उसे उस पर समीचीन श्रद्धा किस प्रकार हो सकती है?

तो यह कार्मणशरीर कोई फरिश्ता चित्रगुप्त नही है। यह तो कर्मों का पुंज है। जीव जिस-जिस प्रकार की क्रियाए करता है, उन्ही के अनुसार कर्म बधते रहते हैं। बध के समय हा उन कर्मों में भांति-भाति के स्वभाव उत्पन्न होते हैं, जिन्हे प्रकृतिबंध कहते हैं। उसी समय उनमे फल देने की न्यूनाधिक शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है जिसे अनुभाग या रसवध कहते हैं। उन बद्ध कर्मों में, आत्मा के साथ बधे रहने की कालमर्यादा भी उत्पन्न हो जाती है जिसे स्थिति-वंध कहते हैं। बंधे हुए कर्म-दलिकों का जो समूह होता है, वह प्रदेश-वध कहलाता है। यही वंध के चार प्रकार हैं। इनमें से दो अर्थात् प्रकृतिवंध और प्रदेशवंध योग के निमित्त से और स्थितिबध तथा रसबंध कषाय के उदय से होते हैं।

प्रत्येक बद्ध कर्म का, स्थिति के अनुपात से, एक नियत अबाधा काल होता है। उस काल की समाप्ति के पश्चात् कर्म अपना असर दिखलाते हैं, फल प्रदान करते हैं या उदय मे आते हैं।

कर्म का उदय दो प्रकार से होता है—अनुभाग से और प्रदेश से अर्थात् कुछ कर्म तो अपना फल देते हुए उदय में आते हैं और कुछ कर्म फल दिये बिना ही प्रदेशों से उदय में आकर निर्जीर्ण हो जाते हैं। यह दोनों क्रम संसारी जीवों में सदा चलते रहते हैं।

योगों को चञ्चलता के कारण आत्मप्रदेशों में जो परिस्पन्दन निरन्तर होता रहता है, वह इस गुणस्थान में बन्द हो जाता है। आत्मप्रदेश निश्चल हो जाते हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच ह्रस्व स्वरों का मध्यम वेग से उच्चारण करने मे जितना समय लगता है, उतने समय तक ही चौदहवे गुणस्थान मे जीव रहता है। दीर्घ स्वरों का उच्चारण काल यहा इसलिये वर्जित किया गया है, क्योकि उनके उच्चारण मे ह्रस्व स्वरो की अपेक्षा दुगुना काल लगता है और चौदहवें गुणस्थान की स्थिति इतनी अधिक नही है।

ह्रस्व और दीर्घ स्वर क्या होते हैं, यह व्याकरणशास्त्र का विषय है। मैं आपको व्याकरण पढाने के लिये नही बैठा हूं। यहां तो गुणस्थान-चर्चा के सिलसिले मे उनका जिक्र भर कर दिया है।

हा, तो पाच ह्रस्व स्वरो का उच्चारण करने के जितने काल तक चौदहवे गुणस्थान मे रह कर आत्मा शाश्वत सिद्धि का पथ ग्रहण करता है, सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो जाता है। सदैव के लिये जन्म मरण के दुखो स छूट जाता है इस अवस्था का नाम मोक्ष है।

सज्जनो! आज की मेरी सृष्टि और दृष्टि सूक्ष्म है—गभीर सैद्धान्तिक चर्चा का प्रसग आ गया है। साधारणतया ऐसे विषय समूह को कम रुचिकर होते हैं। व्याख्यान मे कथाए हो और बीच मे गीतो का पुट भी हो तो आपका मन अधिक लगता है। वह सब तो आप अन्यत्र भी सुन सकते हैं। यहा कथा-कहानी और गायन सुनने के लिए आप नही आए हैं। मेरा कर्त्तव्य धर्मतत्त्व समझाने का है। यह बात अलग है कि किसी गंभीर बात का सरलता से समझाने के लिये उदाहरण का प्रयोग किया जाय और पद्य का प्रयोग किया जाय, मगर मनोविनोद की दृष्टि से ऐसा करना मेरा काम नही। आपको भी धर्मगुरु से ऐसी अपेक्षा नही करनी चाहिए।

मनोविनोद के लिये बहुत विशाल क्षेत्र है, परन्तु धर्मतत्त्व को समझने के लिये सीमित क्षेत्र है और समय भी आप अल्प ही दे सकते हैं। अतएव इस समय का सदुपयोग इसी मे है कि इसमें अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अधिक सावधानी के साथ सुनें और बाद में भी उस पर विचार करें। सुनी हुई बातो में से कोई बात साफ-साफ समझ में न आई हो, कोई शका हो तो किसी दूसरे समय मे पूछ ले और समझ लें।

राजकोट नगर बृहत् सौराष्ट्र का मुख्य केन्द्रधाम समझा जाता है। अगर इस नगर मे ही ऐसी गंभीर विषयों की चर्चा न करूँगा तो क्या गांवडों में जाकर चर्चा करूँगा ? इस नगर में ही अगर मेरा माल न बिका तो फिर कहां बिकने की आशा की जाएगी ? हां इस कीमती माल को लेगा वही जिसमे समझने की शक्ति होगी, प्रेम होगा। अगर कोई अधिक नही तो अँगूठी का एक नग ही खरीद लेगा, अर्थात् आत्महितकारी एक बात भी जीवन में उतार लेगा तो भी मैं समझ लूंगा कि मेरा परिश्रम सार्थक हो गया। उसका भी कल्याण हो जाएगा।

साधु के प्रवचन का प्रधान प्रयोजन अपने कर्मों की निर्जरा करना है। निर्जरा के निमित्त ही धर्मोपदेश किया जाता है। अतएव आप लाभ उठावे अथवा न उठावें, प्रवचनकर्त्ता का लाभ तो हो ही जाता है। फिर भी हमारे ऊपर आप का भी उत्तरदायित्व है। आप श्रमणो के उपासक हैं इस नाते आपके भी धार्मिक जीवन का विचार हमें करना पडता है। इसी कारण आपको यह चेतावनी दे रहा हूँ कि इस गम्भीर चर्चा को सावधानी से सुनना।

आजकल नकली जवाहरात बहुत चल गये हैं। असली जवाहरात वाले तो बेचारे बैठे हैं और नकली वालो की धूम मची रहती है। फिर भी इतने बड़े समूह में अगर दो चार भी खरीददार मिल गये तो

मुझे प्रसन्नता होगी। शास्त्रीय बातों को समझना-समझाना कुछ कठिन होता है। आपके देश के खाखरे और गांठिया जल्दी हजम हो जाते हैं, मगर बादाम का हलुवा विरले ही हजम कर पाते हैं।

साधारण बाते तो खाखरा, गांठिया या चावल के समान हैं जिनको हजम होते देर नही लगती। चोरवा कहता है—

चावल कहे मेरा उजला खाना,
मेरे भरोसे कही मत जाना।

चावल सफेदपोश है, मगर उसमें दम कुछ भी नही है। बात की बात मे पेट भर जाता, परन्तु एक दो बार लघुशका होते ही हजम हो जाता है क्योकि चावलो मे तरल पदाथ अधिक होता है। मगर जो बादाम का हलुवा हजम कर लेगा अर्थात् सिद्धान्त के गम्भीर विषयो की जानकारी प्राप्त कर लेगा, उसकी हड्यो मे ताकत आ जाएगी। उसे प्रतिवादी परास्त नही कर सकेगा, क्योकि उसके रोम-रोम में प्रभुवाणी जो भरी पड़ी है।

कल दोपहर मे, भगवती जी के वाचन मे तु गिया नगरी के श्रावको का जिक्र आया था। वे जीव, अजीव आदि नव तत्त्वो के ज्ञाता थे और देवो की भी सहायता की अपेक्षा नही रखते थे। देवताओ का समूह भी उन्हे धर्म से विचलित नही कर सकता था। ऐसे तत्वज्ञ और दृढधर्मी वे श्रावक थे। उन्होने चावल खाकर शरीर नहीं बनाया था। उनका धर्म जीवन रूपी शरीर भगवान् द्वारा कथित तत्व के उपदेश को सुनकर दृढ़ बना था। सिद्धान्त के मर्म को उन्होने समझा था।

मगर आज के अधिकाश श्रावक कहलाने वाले लोग लोभ-लालच में फंस जाते हैं। अगर उनकी अन्तरात्मा में निश्चल श्रद्धा हो तो वे किसी भी प्रकार के प्रलोभन में नही फंस सकते। समस्त धर्म-

क्रियाएं श्रद्धा की शुद्धि पर निर्भर हैं। यही कारण है कि जहां भी मेरा चातुर्मास होता है, शास्त्रीय विषयों पर विशेष रूप से बल देने का ध्यान रखा जाता है।

कार्मणशरीर का सदा के लिए यदि पूरी तरह अन्त करना है तो आपको सर्वप्रथम प्रगाढ़ श्रद्धा प्राप्त करनी होगी और धर्मतत्त्व को समझे विना श्रद्धा में प्रगाढ़ता नही आ सकती। जो जिस तत्त्व को समीचीन रूप से समझेगा ही नही, उसे उस पर समीचीन श्रद्धा किस प्रकार हो सकती है?

तो यह कार्मणशरीर कोई फरिश्ता चित्रगुप्त नही है। यह तो कर्मों का पुंज है। जीव जिस-जिस प्रकार की क्रियाए करता है, उन्ही के अनुसार कर्म बधते रहते हैं। बध के समय ही उन कर्मों में भांति-भांति के स्वभाव उत्पन्न होते हैं, जिन्हे प्रकृतिवध कहते हैं। उसी समय उनमें फल देने की न्यूनाधिक शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है जिसे अनुभाग या रसवध कहते हैं। उन बद्ध कर्मों में, आत्मा के साथ वधे रहने की कालमर्यादा भी उत्पन्न हो जाती है जिसे स्थिति-वंध कहते हैं। वंधे हुए कर्म-दलिकों का जो समूह होता है, वह प्रदेश-वंध कहलाता है। यही वंध के चार प्रकार हैं। इनमें से दो अर्थात् प्रकृतिवंध और प्रदेशवंध योग के निमित्त से और स्थितिवध तथा रसवंध कषाय के उदय से होते हैं।

प्रत्येक वद्ध कर्म का, स्थिति के अनुपात से, एक नियत अबाधा काल होता है। उस काल की समाप्ति के पश्चात् कर्म अपना असर दिखलाते हैं, फल प्रदान करते हैं या उदय में आते हैं।

कर्म का उदय दो प्रकार से होता है—अनुभाग से और प्रदेश से अर्थात् कुछ कर्म तो अपना फल देते हुए उदय में आते हैं और कुछ कर्म फल दिये बिना ही प्रदेशों से उदय में आकर निर्जीर्ण हो जाते हैं। यह दोनों क्रम संसारी जीवों में सदा चलते रहते हैं।

कार्मणशरीर का अव्ययों के साथ अनादि अनन्नत संबंध है। उनका कार्मणशरीर अनादि काल से उनके साथ लगा है और अनन्त काल तक लगा रहेगा, उसका कभी अन्त आने वाला नही है। परन्तु कई जीवों के साथ उसका अनादि सान्त सम्बन्ध है। कार्मण और तैजस, इन दो शरीरों का अन्त आने पर ही मोक्ष मिलता है।

कार्मणशरीर का परिवार और दायरा बहुत विशाल है। मन, वचन, काम के योग कार्मणशरीर पर निर्भर हैं। लेश्या, इन्द्रिय, कषाय, आदि कार्मणशरीर के ही परिवार में सम्मिलित हैं। सब का मूल यही है। वास्तव मे कर्मपुंज ही कार्मण है। यह शरीर प्रवाह रूप से जीव के साथ अनादि से चिपटा हुआ है।

प्रवाह-पूर कब तक चलता है? जब तक उसके पीछे कारण हो, नयी आय हो। जब तक नदी में नया-नया पानी आता रहता है और प्रवाह का कारण विद्यमान रहता है, तब तक प्रवाह चालू रहता है। ऊपर पानी की वर्षा हुई हो तो नदी में पूर आ जाता है। पहाड़ पर बर्फ पिघला हो तो भी पूर आ जाता है। वर्षा न होने पर भी और बर्फ के न गलने पर भी झरनों के द्वारा पानी की आमद होती रहने से भी प्रवाह चालू रहता है जब इन कारणो मे से एक भी कारण नही रहता तो नदी का प्रवाह बन्द हो जाता है। कारण के अभाव मे कार्य का होना सम्भव नही है।

जिस प्रकार सरिता के प्रवाह को जारी रखने के अनेक कारण हैं, उसी प्रकार कर्म-प्रवाह को चालू रखने के भी अनेक कारण हैं। हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप पांच पाप, कषाय, लेश्या, योग आदि कारणो से कर्म का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। वह क्षण भर के लिए भी कभी नहीं रुकता। यह थोड़ा-सा बर्फ नही कि जल्दी पिघल जाय और प्रवाहित होकर खत्म हो जाय।

पहले वाला पिघलता नही है तब तक नया जम जाता है—बंध जाता है। यह तो बंधने से तभी रुकता है जब जीव अलेशी, अकषायी और अयोगी हो जाता है।

कर्म विशेष की अपेक्षा से सादि सान्त है। ऐसा कोई भी एक विशेष कर्म नही है जो अनादि काल से जीव के साथ बंधा चला आ रहा हो। शास्त्रों में सब कर्मो की स्थिति बतलाई गई है। सब से लम्बी स्थिति मोहनीय कर्म की है और वह अधिक से अधिक सत्तर कोड़ाकोडी सागरोपम काल तक जीव के साथ बधा रह सकता है। ज्ञातावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। नाम और गोत्र कर्म ज्यादा से ज्यादा बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक ही रहते हैं। आयुकर्म तेतीस सागरोपम तक है।

इसका आशय यह है कि एक वार बंधा हुआ कर्म इस काल-मर्यादा से अधिक नही रह सकता। स्थिति पूर्ण होने पर कर्म की निर्जरा हो ही जाती है और तब वह कर्म, कर्म नही रहता। इसी अभिप्राय से कर्म को सादि-सान्त कहा गया है।

परन्तु कर्मों का प्रवाह सतत चलता रहता है। पहले का कर्म भोगा या नही भोगा, नया बंधता रहता है। संसारी जीव प्रतिसमय अनन्त-अनन्त कर्मपुद्गलों का नया-नया बन्ध करता रहता है। योगों की चपलता यदि उग्र है तो अधिक कर्म बंधते हैं और उनकी वृत्ति यदि मन्द हो तो कम बधते हैं। फिर भी अनन्त कर्म परमाणुओं से कम नहीं बंधते। उस अनन्त की संख्या में ही न्यूनाधिकता होती है। इस प्रकार कर्मबन्ध का सिलसिला बराबर चालू है।

नदी का प्रवाह क्या चीज है? जल के निरन्तर गतिशील बिन्दुओं का समूह। किनारे पर खड़े हो कर आप देखेंगे तो पता चलेगा कि

जल का कोई भी एक बूंद क्षण भर के लिए भी नही ठहरता है—वह आगे से आगे निरन्तर बढ़ता जा रहा है, अपना स्थान खाली कर देता है और दूसरा जलविन्दु उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक नदी मे इधर-उधर से पानी की आमद होती रहती है। जब आमद रुकती है, तभी प्रवाह रुकता है।

यही स्थिति कर्मप्रवाह की समझिए। प्रत्येक कर्म नये सिरे से बंधता है और अपनी स्थिति से अधिक नहीं ठहरता है, मगर उसका स्थान दूसरा कम ले लेता है और इस प्रकार जीव कर्मप्रवाह से छुटकारा नही पाता। छुटकारा पाता है तब ही, जब नवीन कर्मों का आना (आस्रव) रुक जाता है।

इस प्रकार कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि-सान्ति होने पर भी सन्तति की अपेक्षा से अनादि है।

यह कर्म पुद्गल रूप है। पुद्गल के अनेक प्रकार हैं, उनमे से यह कार्मणवर्गणा के पुद्गल हैं। यह अत्यन्त ही सूक्ष्म हैं और समस्त लोक में खचाखच भरे हैं। जहा आप बैठे हैं अर्थात् आपका आत्मा मे जिन आकाशप्रदेशों को अवगाहन कर रक्खा है, उन आकाशप्रदेशों में भी अनन्त कार्मणवर्गणा के परमाणु भरे हुए हैं। आपके जैसे अध्यवसाय होते हैं, उन्हीं के अनुरूप वे परमाणु वहीं के वही आत्मप्रदेशों में बद्ध हो जाते हैं।

मनुष्य बोलता है और उसकी बोली रिकार्ड में भर जाती है। उन पुद्गलो को जब चाहो तभी प्रकट कर सकते हो। रिकार्ड के तवे को उठाकर कान पर लगाओगे तो वह शब्द सुनाई न देगा, यद्यपि उसमें वह भरा हुआ है। किन्तु जब वह तवा मशीन पर चढ़ाया जाता है और चाबी भरी जाती है और सुई लगाई जाती है,

तब वह प्रकट रूप में सुनाई देने लगता है। लाउडस्पीकर लगा देने पर वही शब्द दूर-दूर तक सुनाई पड़ता है। इस तरह उस तवे में पूरा का पूरा गायन या व्याख्यान भरा पड़ा है, तथापि जब तक परिपूर्ण साधन उपलब्ध न हो, वह व्यक्त नहीं होता। साधन मिलने पर वह ज्यों का त्यों व्यक्त हो जाता है।

तो यह संसार भी वह भवन है जहां रिकार्ड भरा जाता है। जीव की प्रत्येक क्रिया, चाहे वह कायिक हो या वाचनिक हो या मानसिक हो, कार्मण रूपी रिकार्ड में भरी जाती है। पहले उन कर्मों का हमें अनुभव नही होता मगर जब साधन मिलते है और वे कर्म उदय में आते हैं तब वह रिकार्ड प्रकट होता है।

हा, तो आशय यह है कि पृथ्वीकाय के एकेन्द्रिय जीवों में भी ज्ञानचेतना है, आत्मा है, योग है, कषाय है, लेश्या है। उन्हे भी औदारिक, तैजस और कार्मण नामक तीन शरीर प्राप्त हैं। अतएव वे भी सुख दुःख का अनुभव करते हैं। यद्यपि उनका अनुभव व्यक्त नहीं है तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि उन्हे अनुभव होता ही नही है।

इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय भी एकेन्द्रिय प्राणी हैं। इन्हें भी तीन शरीर प्राप्त हैं। वायुकाय में वैक्रिय शरीर भी होता है।

शरीर की प्राप्ति होना कर्म का फल है। जो कर्म का फल प्राप्त करता है, वही—उस कर्म का कर्ता होता है और जो कर्म का कर्त्ता तथा भोक्ता होता है वह जीव ही हो सकता है, जड़ नहीं। जड़ पदार्थ न कर्म का कर्त्ता और न भोक्ता ही हो सकता है। यह निश्चित है कि जो शरीर को प्राप्त करता है, उसमें ज्ञान अवश्य होती है।

इस प्रकार शास्त्रीय विचार से एकेन्द्रिय जीवो की सत्ता स्पष्ट सिद्ध है। परन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार नही करते और कहते हैं कि हमें बुद्धिगम्य तरीके से एकेन्द्रियो का जीवत्व समझाइये। ऐसे लोगो के सन्तोष के लिए भी शास्त्रकारो ने कतिपय प्रमाण दिये हैं। उन्होने बतलाया है कि एकेन्द्रियो के शरीर मे भी वही बहुत-से धर्म उपलब्ध होते हैं जो हमारे शरीर मे हैं। जैसे हमारा शरीर बढता है वैसे ही एकेन्द्रिय जीवो का भी शरीर बढ़ता है। शरार की यह वृद्धि बनस्पतिकाय में अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। आलू आदि पृथ्वी के भीतर रह कर भी पृथ्वी से आहार ग्रहण करके बढते रहते हैं। पृथ्वी से संबद्ध ककर भी धीरे-धीरे बढते-बढ़ते बड़े-बड़े पत्थर बन जाते हैं। वे लोयाहार और ओजआहार लेते हैं। आहार लिए बिना शरीर की वृद्धि नही होती और शरीर की वृद्धि होना सजीवता का लक्षण है। कोई भी निर्जीव पदार्थ अपने आप वृद्धि को प्राप्त नही होता है।

हम साधु-सन्त सर्वत्र घूमते हैं, जंगलो मे भी जाते-आते हैं, अतएव हमें इन बातों का विशेष अनुभव है।

जैसे जीवित माता ही सन्तान उत्पन्न कर सकती है, उसी प्रकार सचित्त पृथ्वी ही पाक उत्पन्न कर सकती है। जैसे निर्जीव माता सन्तान को उत्पन्न नही कर सकती, उसी प्रकार पृथ्वी यदि निर्जीव होती तो वह पाक उत्पन्न नही कर सकती थी। चूल्हे की या भट्टी की मिट्टी, जो आग के सम्पर्क से निर्जीव हो गई है, उसमे पाक उत्पन्न नही हो सकता।

आत्मवादी जनों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पृथ्वी सचित्त है अर्थात् वह एकेन्द्रिय जीवों का शरीर है। पर आज का जमाना तर्क का है। आज के चेले बिना दलील के किसी बात को स्वीकार नही करना चाहते। वे तर्कपुरस्सर, आज के विज्ञान के साथ

मिला कर बात कही जाय तभी मानते हैं। वे सभी विषयों को बुद्धि की ही कसौटी पर कसना चाहते हैं। परन्तु ऐसा नही हो सकता। सब विषय बुद्धि की कसौटी पर नहीं कसे जा सकते। बुद्धि की तराजू बहुत स्थूल है और बहुत से विषय ऐसे हैं जो उस पर तुल नही सकते। जैसे लकड़ी तोलने के काटे पर सिर का एक केश तोला जाय तो वह तुलता नही है। उसके रखने पर पलडा नीचे नही झुकता। इसी कारण यह नही कहा जा सकता कि उसमें वजन नही है। केश में वजन है, गुरुत्व है, किन्तु इतना अल्प कि वह स्थूल कांटा उसे दिखला नहीं सकता, इसी प्रकार अनेक विषय ऐसे हैं जो बुद्धि और तर्क की तराजू पर तुल नही सकते। एतावता उन्हे अस्वीकार नही करना चाहिए। जो विषय तर्कगम्य और बुद्धिसाध्य हैं उन पर तर्क और बुद्धि से विचार करना उचित है, परन्तु जो तर्कातीत और मति-अगोचर हैं, उनमें तर्क और मति के प्रयोग का आग्रह करने का फल यही होगा कि हम उन सूक्ष्म तत्त्वों के ज्ञान से वंचित रह जायेंगे। इससे नास्तिकता आ जाएगी।

शुद्ध आत्मस्वरूप के विषय में शास्त्रकारो ने पहले ही चेतावनी दे दी है कि—

तक्का तत्थ न विज्जई।
मई तत्थ न गाहिया।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप के विषय में तर्क का प्रवेश नही होता और न बुद्धि ही वहां तक पहुंच सकती है। आत्मतत्त्व को यथावत समझने के लिये विशिष्ट योग्यता प्राप्त करनी होती है और वह योग्यता वाद-विवाद से नही, वरन साधना से, तपस्या से और निष्ठापूर्वक किये जाने वाले अभ्यास से प्राप्त होती है। जिसने इस प्रकार की तैयारी नही की है, उसे आत्मतत्त्व अगर समझ में नहीं आता तो इसमे उसी का दोष है, किसी अन्य का नही।

फिर भी करुणासदन शास्त्रकारों ने जहां तक संभव हुआ, उसे समझाने का प्रयत्न किया है। एकेन्द्रिय जीवों की सजीवता सिद्ध करने के लिए श्रीमद् आचारांगसूत्र में कहा गया है—जैसे मनुष्य के शरीर में आपरेशन से या अन्य किसी कारण से गड़हा हो जाता है तो वह आहार लेने से धीमे-धीमे भर जाता है, इसी प्रकार पृथ्वी में से मिट्टी खोदने के बाद भी पड़ा हुआ गड्हा भर जाता है। वृक्षों पर नम्बर डालने के लिए गड्ढे किये जाते हैं, पर वे गड्ढे धीरे-धीरे साल दो साल में भर कर बराबर हो जाते हैं। अगर वृक्ष में जीव न होता और वह आहार न करता होता तो उसका गड्ढा कैसे भरता ? बढ़ई की दुकान में पड़ी हुई सूखी-निर्जीव लकड़ी मे अगर गड्ढा या छेद कर दिया जाय तो क्या वह कभी भर सकता है ? नही।

इस अंतर का कारण यही है कि एक आहार ग्रहण करता है और इस कारण सजीव है तथा दूसरा आहार ग्रहण नही कर सकता और इस कारण निर्जीव है।

इसी प्रकार जैसे मनुष्य शरीर का कोई अंग काटने पर वह मुरझा जाता है, उसी प्रकार वनस्पति का काटा हुआ अंग भी मुरझा जाता है। यह भी उसकी सजीवता का प्रमाण है।

आज मुख्य रूप से पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवो के विषय मे कहा गया है। इसका उद्देश्य यही है कि यथाशक्ति इन जीवों की भी रक्षा करनी चाहिए और निरर्थक हिंसा से तो बचना ही चाहिए। दयामाता के प्रभाव से अनन्त जीव तिर गये हैं। आप दयामाता की उपासना करेंगे और उसकी शरण ग्रहण करेंगे तो आप भी संसार समुद्र से तिर जाएगे।

राजकोट,
५-८-५४

———

: ६ :

आत्मकल्याण का पथ—अर्हत्स्तुस्ति

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्त्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ।।

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिन. प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ।।

धर्मप्रिय मज्जनो और वहिनो !

अभी-अभी अरिहन्त भगवान् की स्तुति की गई है। प्रभु की स्तुति करना मनुष्य के लिये अत्यन्त सौभाग्य की बात है। इस असीम ससार-सागर में गोते खाते-खाते बड़ी ही कठिनाई से मानव-भव प्राप्त हुआ है। इस जीव ने अनन्तानन्त काल एकेन्द्रिय अवस्था में व्यतीत किया। वहां इसे जीभ की भी प्राप्ति नही हो सकी। कुछ पुण्य का उदय हुआ तो एकेन्द्रियपर्याय से मुक्ति मिली और द्वीन्द्रियदशा पाई। उस दशा में जीभ तो मिली मगर स्फुट वाचा-शक्ति नही मिली। त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रियदशा में भी यही हालत रही। पंचेन्द्रिय होकर भी जब तिर्यंच गति में गया तब भी वह शक्ति नहीं

मिल सकी। नरकगति में गया, मगर नरक की वेदना से निरन्तर व्यथित रहने के कारण तथा नरकातिभावी कलुषित भावनाओं के कारण भगवान् की स्तुति के लिए अवकाश नही मिल सका। देवगति मे कदाचित् जन्म लिया तो वहा भोग भावना की प्रचुरता के कारण धर्मभावना पनपने न पाई और भगवत्स्तुतिका अवसर मिला भी तो कभी-कभी। मनुष्यगति पाई तो कदाचित् समूर्छिम हो गया, कदाचित् भोग भूमिमें उत्पन्न हुआ, जहाँ अर्हंत्स्तति के लिये गुंजाइश ही नही थी। कर्मभूमि मे जन्म लेने का अवसर आया तो वहा भी अनेकानेक अन्तराय उपस्थित रहे। कभी अनार्यकुल में जन्म हुआ। कभी कभी नास्तिककुल मे उत्पन्न हुआ, कभी अरिहन्त के मार्ग से विपरीत श्रद्धा वाले कुल में जन्म हुआ। इस प्रकार वहां भी अरिहन्त भगवान् की स्तुति से यह जीव वंचित रह गया। इन सव और ऐसे-ऐसे और भी अनेक अन्तरायों को पार करके धर्मसस्कारमय परिवार मे जन्म मिलने पर और ध-श्रवण, श्रद्धा आदि निमित्त मिलने पर ही श्री अरिहन्त देव की स्तुति करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि यह सौभाग्य सस्ता नही, बड़ा मँहगा है और इसी कारण वहुत-वहुत कठिनाइयो को पार करने के पश्चात् इसकी प्राप्ति होती है।

इससे आप समझ सकते हैं कि आज आपको अरिहन्त भगवान् की स्तुति करने का जो महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह तीव्रतर पुण्य के उदय से प्राप्त हुआ है। इस अवसर को प्राप्त करने के लिये आपने पुण्य की वड़ी पूंजी खर्च की है।

यह वात मेरी अपेक्षा भी आप अच्छी तरह समझते हैं कि कुशल वणिक् अपनी पूंजी यों ही नही लुटा देता। वह पूंजी लगाता है तो मुनाफे की दृष्टि से ही लगाता है। अतएव आपने जो पुण्यरूपी पूंजी

व्यय करके यह पर्याय पाई है, उसे भी बढाने का ही प्रयत्न करना चाहिए, अर्थात् इस जीवन को प्राप्त करके पहले की अपेक्षा भी अधिक पुण्योपार्जन करना चाहिये। तभी आप चतुर वणिक् कहलाएंगे। उस पूंजी को बढाने का एक उत्तम उपाय अरिहन्त भगवान् की स्तुति करना भी है। यह उपाय सुगम से सुगम उपाय है। आत्मकल्याण का इससे अधिक सरल अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता।

आप दान देते हैं तो धन की ममता त्यागनी पड़ती है, तपश्चरण करते हैं तो भूखा रहना पड़ता है। परन्तु अरिहन्त देव की स्तुति करने में ऐसा कुछ नही करना पड़ता। इसके लिये आवश्यकता है चित्तशुद्धि की। हृदय में निर्मल भाव हो, भक्ति से चित्त गद्गद हो गया हो, समर्पण की भावना हो और लौकिक कामना न हो। इस प्रकार से चित्त को निर्मल करके अगर आपने स्तुति की तो आप बड़े से बड़ा पुण्योपार्जन कर सकते हैं। श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र में प्रश्न किया गया है—

प्रश्न—थवयुईमंगलेणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—थवथुइमगलेणं नाणदंमणचरित्तबोहिलाभ जणयइ। नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसपन्ने य णं जीवे अन्तकिरिय कप्पविमाणोववत्तिग आराहण आराहेइ॥

यह शिष्य ने प्रश्न किया है—भगवन् ! स्तवस्तुति करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्तुति-मंगल का सेवन करने से जीव को ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधि की प्राप्ति होती है। इस बोधि की प्राप्ति करके जीव-मुक्ति प्राप्त करता है या वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है।

अरिहन्त भगवान् की स्तुति इतनी महान् फल देने वाली है। अतएव जिससे अन्य कोई धर्मक्रिया नही बन पड़ती उसे कम से कम स्तुति तो करनी ही चाहिए।

याद रक्खो, जीभ पाने की सार्थकता परमात्मा का गुणानुवाद करने में ही है। जिसने जिह्वा पाई और स्पष्ट एवं सार्थक वाणी बोलने की सामर्थ्य पाई, उसने अगर अरिहन्त भगवान् की स्तुति न की तो उसका जिह्वा और वाचाशक्ति पाना वृथा हो गया।

जब निर्मल चित्त से अरिहन्त भगवान् की स्तुति की जाती है और भगवान् के लोकोत्तर गुणों में चित्त लीन हो जाता है तो अपूर्व और अनूठा आनन्द मिलता है। अन्तःकरण में रस का विशुद्ध निर्झर प्रवाहित होने लगता है और उस निर्झर के पावन स्रोत में कोटि-कोटि पाप धुल जाते हैं। आत्मा चमक उठता है।

स्तुति करने से भावों में अपूर्व निर्मलता आती है। योगों का एकीकरण होता है। एकीकरण-एकाग्रता से आस्रव का निरोध होता है और संवर की साधना हो जाती है।

इसके अतिरिक्त कृतज्ञता प्रकाशन के लिये भी हमें अरिहन्त भगवन्त की स्तुति करनी चाहिए। अज्ञान के निविड़ अंधकार में भटकने वाले जगत् के जीवो के लिये अरिहन्त भगवान् प्रदीप के समान, प्रकाशस्तम्भ के समान चन्द्र के समान और सूर्य के समान, प्रकाश देने वाले हैं। बल्कि अरिहन्त भगवान् के लिये यह सब हीनोपमाएं हैं। प्रदीप, चन्द्र और सूर्य आदि जितने भी प्रकाशदायक पदार्थ हैं, सब द्रव्यान्धकार को ही नष्ट कर सकते हैं; अन्तरतर मे व्याप्त तिमिर को दूर करने की शक्ति उनमें नही है। परन्तु भगवान् ने अपने उपदेश के आलोक से हमारे अज्ञान अंधकार का निवारण किया और हमें अपूर्व ज्योति प्रदान की है। भगवान् के समान अन्य कौन हमारा उपकारक हो सकता है ?

कोई मनुष्य अज्ञात प्रदेश में सफर कर रहा हो और मार्ग भूलकर किसी निर्जन अटवी में पहुंच जाय। ऐसी अटवी में जहां हिंस्र बनचरों का एकच्छत्र साम्राज्य हो, वे बेरोक टोक इधर उधर विचरण करते हों। पथिक भयभीत है। प्राणों पर संकट आ पड़ा है। भूख-प्यास से व्याकुल हो रहा है। पास में जो पूंजी है, उसने भय और आशंका को हजार गुणा बढा दिया है। किधर से भी लुटेरे आकर हमला कर सकते हैं और पूंजी की बदौलत प्राणो का भी खात्मा कर सकते हैं। घबराया हुआ पथिक चलना बन्द कर दे तो अटवी से उद्धार होने का कोई उपाय नही, वहां प्राण विसर्जन करने पड़ते हैं। चलता है तो और भी भयानक प्रदेश में पहुंचता है। चारो ओर मुसीबत ही मुसीबत है।

ऐसे विकट प्रसग पर अगर अकस्मात् ही कोई मार्ग जानने वाला मिल जाय और वह दया करके पथभ्रष्ट पथिक को अटवी से निकलने का सही रास्ता बतला दे तो पथिक का कितना उपकारक माना जाता है ? वह पथिक उस पथप्रदर्शक का उपकार आजीवन नही भूल सकता।

इसी प्रकार ससारी प्राणी धर्ममार्ग से छिटक गया है। वह उन्मार्ग पर चला गया है।

मोक्ष, क्षेत्र की दृष्टि से यहा से सात राजू दूर है, पर कुछ कम। नीचे का लोक सात राजू से कुछ अधिक है।

यहा पर भी रज्जु-डोरी-से नाप होता है, पर यहां की रज्जु भी छोटी है और मकान भी छोटे हैं। भगवान् का घर भी बड़ा है और उनकी ज्ञान रूपी रज्जु भी बहुत बड़ी है। उसी से इस लोक का माप किया गया है। यह लोक एक राजू तिर्छा है और चौदह राजू ऊंचा है। अर्थात् सातवे नरक के अधोवर्ती चरमान्त से सिद्धशिला

के उपरितन चरमान्त भाग तक, जहां लोक पूर्ण होता है, की ऊंचाई चौदह राजू की है। इस प्रकार सिर्फ क्षेत्रदृष्टि से ही विचार किया जाय तो संसारी जीवो का मार्ग कितना लम्बा है।

हां, साधन उपयुक्त हों तो महोनों का मार्ग दिनों में भी कट जाता है। पैदल-पैदल अमेरिका जाया जाय तो महीनों के महीने ही नही शायद वर्षों लग जाएं। मगर आजकल इतने द्रुतगामी साधन उपलब्ध हो गये हैं कि वह लम्बा मार्ग भी घटो में तय किया जा सकता है। हवाई जहाज से बहुत कम समय लगता है। इसी प्रकार जिन प्राणियो को समुचित धर्म-साधन मिल जाते हैं, वे ससार के मार्ग को शीघ्र ही पार करके मोक्ष पा लेते हैं।

मोक्ष के साधन ज्ञान, दर्शन और चरित्र हैं। जिन्हें यह साधन उपलब्ध हो गये, उन्हें मोक्ष प्राप्त करने में अधिक विलम्ब नही लगता। सम्यक् साधन सम्पन्न भव्य जीव कोटि-कोटि जन्मो में भी न कट सकने वाले मार्ग को घटो में काट लेता है। मिथ्यादृष्टि जीव घोर तपश्चर्या करके, जिन्दगी भर में भी जितना मार्ग नहीं काट सकता, सम्यादृष्टि उतना मार्ग क्षण-भर में काट सकता है। कहा भी है :—

अज्ञानी क्षपयेत् कर्म, यज्जन्मशतकोटिभिः।
तज्ज्ञानी तु चित्रगुप्तात्मा, निहन्त्यन्तर्मुहूर्त्त के ॥

अर्थात्—अज्ञानी (मिथ्या दृष्टि) जीव सैकड़ों करोड़ों जन्मो में जितने कर्मों का क्षय कर पाता है, उतने कर्मो को ज्ञानी पुरुष, जब मन, वचन, काय की गुप्ति से युक्त होता है, तो अन्तर्मुहूर्त्त जितने स्वल्प काल में ही क्षय कर डालता है।

कहा सैकडों करोड़ जन्म और कहां अन्तर्मुहूर्त्त ! इस कथन से स्पष्ट भास हो सकता है कि अज्ञानी और ज्ञानी की रफ्तार में कितना अन्तर होता है ?

बात यह है कि ज्ञान के प्रकाश में ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ठीक-ठीक भान-विवेक हो सकता है। ज्ञान के होने पर ही चारित्र का समीचीन रूप से पालन किया जा सकता है—पाप से बचा जा सकता है। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव मे मिथ्यादृष्टि जीव मोक्ष के उद्देश्य से कठिन साधना करता हुआ भी मोक्ष नहीं पा सकता। ठीक ही कहा है :—

ज्ञानाद्विदन्ति खलु कृत्यमकृत्यजातम्,
ज्ञानाच्चरित्रममलं च समाचरन्ति।
ज्ञानाच्च भव्यभविन शिवमाप्नुवन्ति,
ज्ञान हि मूलमतुलं सकलश्चिया तत् ॥

ज्ञान से ही पता चलता है कि आत्म कल्याण के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इस प्रकार का कृत्य और अकृत्य का भेद जब मालूम हो जाता है, तभी निर्मल चारित्र का पालन किया जा सकता है। जिसे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक नहीं है, जो अज्ञान के कारण अकृत्य को भी कृत्य और कृत्य को भी अकृत्य समझ बैठता है वह कृत्य समझ कर अकृत्य करता है और अकृत्य समझ कर कृत्य कर्म का परित्याग कर देता है। इस कारण उसका मार्ग लम्बा ही लम्बा होता जाता है। वह मोक्ष की ओर जाने का इरादा करके भी विपरीत दिशा में अग्रसर होता जाता है। नतीजा यह निकलता है कि उसको मोक्ष की प्राप्ति होना कठिन हो जाता है। भव्य और ज्ञानी पुरुष सम्यग्ज्ञान के द्वारा मुक्ति का समीचीन मार्ग जानता है। वह कर्त्तव्य कर्म का ही आचरण करता है और अकर्त्तव्य कर्म से बचता है। वह साधना के सही मार्ग पर ही चलता है। अतएव उसे शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो सम्यग्ज्ञान ही समस्त आत्मिक सम्पत्तियों की प्राप्ति का मूल है। उसी से चारित्र का उद्भव होता है। अतएव उसकी तुलना किसी से नही की जा सकती।

यहां सम्यग्ज्ञान के विषय में जो कहा गया है, उससे यह नहीं समझना है कि सम्यग्दर्शन का कोई महत्त्व नही है। सम्यग्ज्ञान की महिमा में सम्यादर्शन की महिमा भी व्याप्त है, क्योकि ज्ञान को सम्यग्ज्ञान के रूप में परिणत करने वाला सम्यग्दर्शन ही है। जब तक आत्मा में सम्यग्दर्शन का आविर्भाव नहीं होता, समस्त ज्ञान अज्ञान रूप ही रहता है,। सम्यग्दर्शन प्रकट होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है। अतएव सम्यग्ज्ञान का जो भी महत्त्व है, वह सम्यग्दर्शन की वदौलत ही है, और सम्यक् चरित्र, सम्यग्ज्ञान का फल है—

ज्ञानस्य फलं विरति.।

सच्चा ज्ञान वही है जो चारित्ररूप फल को उत्पन्न करता है। जो निष्फल है अर्थात् चारित्रफल को उत्पन्न नहीं करता वह निष्फल ज्ञान किस काम का !

इस प्रकार आत्मा जब सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्राय से विभूषित होता है, तब कोटि-कोटि वर्षों का मार्ग क्षणों में पूरा करता है। उसको गति विस्मयजनक रूप मे तीव्र हो जाती है।

तो मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा श्रावक असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा करता है। श्रावक के पास देशविरति का एक नया साधन होता है जो अविरतसम्यग्दृष्टि के पास नहीं होता। यह साधन प्राप्त होने से वह अविरतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा अधिक कर्मनिर्जरा करता है।

किन्तु श्रावक जीवन भर में जितने कर्म काट सकता है, साधु एक घड़ी में उतने कर्म काट सकता है, क्योंकि उसे सर्वविरति का विशिष्ट शस्त्र प्राप्त हो जाता है। सर्वविरति का शस्त्रा कर्मों को काटने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।

श्रावक एक उड़ान में मोक्ष नहीं पहुँच सकता, साधु एक ही उड़ान में—उसी भव मे मोक्ष पा सकता है। यद्यपि अविरतसम्यग्दृष्टि, श्रावक और साधु का लक्ष्य एक ही है, उनकी श्रद्धा और प्ररूपणा भी एक-सी ही होती है, परन्तु स्पर्शना में—आचरण में तरतमता है।

मिथ्यादृष्टि भी मोक्ष की आकांक्षा करते हैं। उसके लिए प्रयत्न भी करते है। तपश्चरण भी करते हैं, भजन भी करते हैं। वे भी दु ख से छूटना चाहते हैं। मगर वह जो मार्ग ग्रहण करते हैं, वह लक्ष्य की ओर नही ले जाता। बहुत बार तो वह उल्टा मोक्ष से और दूर पहुचा देता है। कभी-कभी सन्निकट पहुंचने में सहायक नही होता। अतएव बहुत कुछ घूमघाम कर, अन्त में सम्यग्दृष्टि के मार्ग पर आकर ही वह मोक्ष पाते हैं।

मनुष्य कूप खोद कर जमीन से पानी निकालते हैं। एक आदमी उसका तरीका जानता है, जमीन के स्वभाव को पहचानता है और मिट्टी को सूंघ कर समझ लेता है कि यहाँ पानी इतनी गहराई में निकल आयेगा। जमीन सूंघ कर पानी की पहचान करने वाले 'सूंघे' कहलाते हैं। पंजाब मे, शिमला रोड पर चडीगढ़ है, जहां पंजाब की राजधानी बनाई गई है। जैनेन्द्र गुरुकुल (पंचकूला) वहीं है। कहते हैं, कि आज की जानी हुई दुनियां मे नम्बर दो का नमूना यह राजधानी है। वहां पानी की उपलब्धि का प्रश्न परेशान कर रहा था। तब जमीन में पानी के विशेषज्ञ (सू घे) बुलाये गये। उन्होने जमीन की परीक्षा करके बतलाया कि यहा प्रचुर परिमाण मे पानी विद्यमान है। इस आधार पर वहा राजधानी बन रही है। आज एक विज्ञानी (पानी शोधक) पानी के स्रोत को ठीक तरह जान सकता है, परन्तु प्राचीन काल में भी यह विज्ञान विद्यमान था।

शास्त्रों मे वर्णित वहत्तर कलाओ में पानी प्राप्त करने की भी एक कला है।

पानी सम्बन्धी कला सब कलाओं मे, लौकिक दृष्टि से प्रधान है। यह पानी चूने वाला है या तेलिया है, हल्का है या भारी है, इत्यादि पानी सम्बन्धी बातो को जानना ही पानी कला को जानना है। पानी जीवन का आधार है उसके विना काम नही चलता। खराब और अच्छे पानी का परिशोधन भी पानी कलाविद् जानता है।

हा, कल्पना कीजिए दो आदमी कुंआ खोदते हैं। उनमे एक पानी विषयक विज्ञान का वेत्ता है और दूसरा उससे अनजान है। अज्ञान के कारण एक ने पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर कूप खोदना आरम्भ किया। उसे दीर्घकाल तक माथापच्ची करने पर भी पानी मिल सकेगा या नही, इसमे भी शका है। क्योकि पानी अपने ठिकाने पर ही मिल सकता है। होगा तो मिलेगा, न होगा तो कैसे मिल जायेगा ?

दूसरे ने तलहटी में या नदी सरोवर आदि किसी बड़े जलाशय के सन्निकट, समभूमि में कूप खोदना शुरू किया। उसे अत्यधिक श्रम किये बिना ही पानी मिल जाता है। उसका खर्च भी कम होता है, परिश्रम भी कम होता है और पानी भी शीघ्र मिल जाता है।

इस प्रकार भावना दोनो की एक ही थी—पानी पाने की। फिर भी एक को जल्दी पानी प्राप्त हो गया और दूसरे को पानी प्राप्त होना सदिग्ध है।

यही स्थिति ज्ञानी और अज्ञानी की अर्थात् मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की समझिये। मोक्ष की आशका दोनों को है। मोक्ष के लिये साधना भी दोनो करते हैं। आखिर कौन है इस जगत में जो

सुख की इच्छा न करता हो ? सभी जीव सुखाभिलाषी हैं और सब अपनी-अपनी समझ के अनुसार सुख प्राप्त करने के उद्योग में ही लगे हुये हैं। रात-दिन सभी जीव एक ही साध्य के लिये पच रहे हैं और वह साध्य है सुख। यह बात दूसरी है कि अज्ञान के कारण अधिकांश लोग सुख के लिये प्रयास करके भी अपने लिये अधिक दुःख की सृष्टि कर लेते हैं। उनका वह प्रयास विपरीत फलदायक सिद्ध होता है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि वे दुःख के अभिलाषी हैं या दुःख के लिए प्रयास करते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि सुख के लिए किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप दुःख की सृष्टि क्यों होती है ? इसका उत्तर समझना कठिन नहीं है। वस्तुतः इसका प्रधान कारण अज्ञान है। संसारी जीव मोहग्रस्त होता है और मोह उसके ज्ञान को विपरीत रूप में परिणत कर देता है। ज्ञान के विपरीत परिणमन के कारण प्राणी न तो सुख और दुःख के ठीक-ठीक स्वरूप को समझ पाता है और न उनके कारणों को ही। जो वस्तुतः दुःख है उसे अज्ञानी जीव सुख समझता है। इस कारण सुख पाने की इच्छा से वह उल्टे दुःख के साधन जुटाता है। यही कारण है कि सुख के प्रयासों में से ही दुःख का उद्भव हो जाता है।

सर्वप्रथम समझने योग्य बात यह कि सुख आत्मा का गुण है। अतएव आत्मा में ही वह पाया जा सकता है, आत्मभिन्न जड़ पदार्थों में नहीं। परन्तु अज्ञान प्राणी इस आधारभूत तथ्य को नहीं समझता, वह परपदार्थों में सुख मानता है। इसी भ्रमपूर्ण मान्यता के कारण वह सुख के लिये धन-दौलत, स्त्री-पुत्र आदि साधन जुटाता है और उनमें आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करता है। परपदार्थों के प्रति

आत्मीयता का भाव धारण करना ही दुःखों का मूल है। इसी से संसार के सब दुःख उत्पन्न होते हैं—

ममत्त्वाज्जायते लोभो, लोभाद्रागश्च जायते ।
रागाच्च जायते द्वेषो, द्वेषाद् दुःखपरम्परा ॥

परपदार्थों के प्रति ममता का भाव स्थापित करने से किस प्रकार दुःखों की उत्पत्ति होती है, इसका क्रम इस पद्य में बहुत सुन्दर बतलाया गया है।

जीव जब किसी वस्तु पर ममत्व धारण करता है तो उसके चित्त में उसे प्राप्त करने की अभिलाषा जागृत होती है। अगर वह प्राप्त हो जाय तो उसकी रक्षा करने की चिन्ता होती है। मन मे सदैव आशंका बनी रहती है कि मेरी वह प्रिय वस्तु चली न जाय। उसका उपभोग करके वह बहुत प्रसन्न होता है। उस पर उसका राग उत्पन्न हो जाता है। किन्तु कोई भी बाह्य पदार्थ सदैव तो टिक नही सकता, कभी न कभी उसका वियोग होता ही है। जब वियोग होता है तो वह प्राणी उसके लिए झूरता है, दुखी होता है। अगर किसी दूसरे के निमित्त से उसका वियोग हुआ है तो उस पर द्वेष करता है। इस प्रकार ममता से लोभ, लोभ से राग, राग से द्वेष और द्वेष से दुःख उत्पन्न होता है।

इस प्रकार विवेकहीन मनुष्य सुख के लिये प्रयत्न करता है मगर उसमे से दुःख का दावानल सुलगने लगता है। इसका प्रधान कारण अज्ञान है। यही अज्ञान मिथ्यादृष्टि पुरुष के कठोर से कठोर अनुष्ठान को भी व्यर्थ बना देता है। मोक्ष के लिए किया हुआ वह अनुष्ठान उसके भवभ्रमण की वृद्धि करने वाला साबित होता है। वह पानी पाने के लिए पर्वत के उत्तुंग शिखर पर कूप खोदता है। उसे निराश होना पड़े तो आश्चर्य ही क्या है ?

तो चाहे मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि हो या साधु हो, सुख सब चाहते हैं। मिथ्यात्वी भी अपनी मान्यता के अनुसार मुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। उसके लिए कठिन क्रिया भी करते हैं। शीतकाल में जलसमाधि लेते हैं—जल में खड़े हो जाते हैं। उष्णकाल में पंचाग्नि तप करते हैं। वृक्ष पर उलटे लटक जाते हैं।

एक बाबा जी ने बारह वर्ष तक भुजा ऊची रक्खी। बाद में यज्ञ किया और लोगों को जिमाया। तत्पश्चात् भुजा नीची करने का प्रयत्न किया तो वह नीची नहीं हुई। लक्कड़ की तरह अकड़ कर रह गई।

मिथ्यादृष्टि भो इस प्रकार के कष्ट सहन करते हैं। परन्तु यह सब अज्ञानकष्ट हैं। आध्यात्मिक चेतना के अभाव में कोरा कायकष्ट क्या कार्यकारी हो सकता है? यह ठीक है कि हद तक कायकलेश भी साधना में सहायक होता है और इसी कारण उसे तपश्चर्या मे परिगणित किया गया है, पर जहा मनोनिग्रहन हो और कषायों के प्रसार को न रोका गया हो, वहां वह व्यर्थ सिद्ध होता है।

साधना का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए आत्मदमन, अर्थात् कषायात्मा और योगात्मा का दमन। इसके लिए जहा तक देहदमन उपयोगी हो, वह भी करना चाहिए। क्योकि राग-द्वेष आदि विकार आत्मा में ही रहते हैं, शरीर में नही। अतएव जो लोग आत्मदमन की परवाह न करके कोरे देहदमन को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाते हैं, वे मानों सांप की लकीर पीटने का प्रयत्न करते हैं। सांप निकल गया तो लाठी मारने से क्या होता है? शरीर को कष्ट देने से सांप—कर्म या कषाय—नष्ट नही हो सकता।

मानवशरीर इतना बुरा नही है कि इसके अस्तित्व को ही सहन न किया जाय। इसके अतिरिक्त इसको नष्ट कर देने से भी क्या

लाभ है? इस शरीर का अगर त्याग भी कर दिया तो कोई दूसरा शरीर मिलेगा और कौन कह सकता है कि वह इससे अच्छा होगा? मुक्ति की साधना के लिहाज से मानवशरीर सर्वोत्तम है। इस शरीर से ही मोक्ष की साधना होती है। फिर इसे त्याग कर दूसरे शरीर को धारण करना तो मुक्ति की साधना में विघ्न डालना ही है।

हां, इस शरीर का त्याग दो अवस्थाओं में उपयोगी हो सकता है। प्रथम तो यह कि इसके साथ समस्त कर्म भी छूट जाएं और फिर कभी कोई शरीर ही धारण न करना पड़े। दूसरे, जब यह शरीर इतना अधिक जीर्ण या व्याधिग्रस्त हो जाय कि साधना में सहायक होने के बदले बाधा उपस्थित करने लगे, यह दोनों बातें न हों तो शरीर को त्याग देना उचित नहीं है।

पाँच चरित्रों में से यथाख्यात चारित्र हो, चार गतियों में से मनुष्यगति प्राप्त हो, पांच शरीरों में से औदारिक शरीर प्राप्त हो, तब मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता प्रकट होती है, इस प्रकार जब औदारिक शरीर मोक्ष के लिए अनिवार्य है तो उसे यों ही फूंक देने से क्या लाभ है? इस शरीर के द्वारा रत्नत्रय की परिपूर्ण साधना करनी चाहिए। इस शरीर के अन्दर स्थित आत्मा में कषाय के जो विकार भरे हैं, उनका शोधन करने की आवश्यकता है। आखिर तो कषाय—विषधर को हटाने से ही काम चलेगा। अज्ञानतप करके शरीर को भस्म कर देने से कोई लाभ नहीं होगा।

दो प्रकार की वृत्ति वाले मनुष्य होते हैं। कोई-कोई श्वानवृत्ति वाले और कोई-कोई सिंहवृत्ति वाले। कुत्ते को लकडी मारने पर वह लकड़ी को काटने दौड़ता है। वह लकड़ी को ही दुःख का मूल

समझता है । मूढ कुत्ता नहीं समझता कि इस बेचारी लकड़ी का क्या दोष है ?

इसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य भी दूसरे को ही दुःख का कारण समझते हैं । वे यह नहीं सोचते कि हमारे किये कर्म ही उदय में आ रहे हैं और वही दुःख के असली कारण हैं । कोई व्यक्ति तो निमित्त-मात्र बन रहा है ।

जो मनुष्य अपने आपको उत्तरदायी न समझ कर दूसरे पर क्रोध करते हैं, समझना चाहिए कि वे श्वान की तरह वृति वाले हैं ।

मगर सिंह की वृत्ति दूसरे ही प्रकार की होती है । वह गोली लगने पर गोली पर नही झपटता । जिस दिशा से गोली आई है उसी दिशा में आगे बढ़ता है और गोली मारने वाले की तरफ लपकता है ।

सम्यग्दृष्टि जीव सुख-दुःख का मूल कारण अपने कृत कर्मों को ही समझता है । मिथ्यादृष्टि जहा विकारी रूप की तरफ जाता है, वहां सम्यग्दृष्टि आत्मभाव की ओर जाता है ।

सम्यग्दृष्टि सही और सीधे मार्ग पर चलता है, क्योंकि वह उस मार्ग का ज्ञाता है, अतः मार्ग से भटकता नहीं है ।

श्रीमद्भगवती सूत्र में कहा है कि जो जीव-अजीव और पुण्य-पाप को नही जानता, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है—सकाय-निर्जरा रूप नही, अकाय निर्जरा रूप है । सम्यग्दृष्टि का प्रत्याख्यान ही करणी में गिना जाता है ।

यद्यपि करणी निष्फल नहीं जाती, अतः मिथ्यादृष्टि भी जो करणी करता है, उसका फल उसे अवश्य मिलता है, परन्तु मिलता है भाव के अनुसार ही । भाव को प्रधानता दी गई है । कहा भी है :—

धनं दत्तं वित्तं जिनवचनमभ्यस्तमाखिलं,
क्रियाकाण्डं चण्डं रचितमवनौ सुप्तमसकृत् ।
तपस्तीव्रं तप्म चरणमपि चीर्णं चिरतरम्,
न चेच्चित्ते भावस्तुषवपनवत् सर्वमफलम् ॥

मनुष्य कितना ही अधिक धन का दान करे, जिनवाणी का अभ्यास करे, उग्र से उग्र क्रियाकाण्ड करे, जीवन पर्यन्त भूमि पर शयन करे, कठोर तपश्चरण करे, चिरकाल तक भांति-भांति के चारित्र का पालन करे, किन्तु यदि चित्त में भाव नहीं है, भावना-दृष्टि की शुद्धि नहीं है, तो छिलके बोने के समान सब निष्फल है।

एक किसान बहुत मेहनत करके खेत साफ करता है, कई बार उसे जोतता है, क्यारियां बना कर उसे पानी देता है, किन्तु जब बोने का अवसर आता है तो धान्य के बदले धान्य के छिलके बो देता है तो उसे अपने परिश्रम का क्या फल मिल सकता है ? उसका श्रम निरर्थक होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य दान, शील और तप का आचरण तो करता है, किन्तु भावना से शून्य है, उसका आचरण निष्फल होता है। अर्थात् उस कष्ट सहन का असली और पूरा फल उसे नहीं मिल सकता। जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए वह क्रियाएं की जाती हैं, वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

स्तोकमप्यनुष्ठानं भावविशुद्धं हन्ति कर्ममलम् ।
लघुरपि सहस्रकिरणस्तिमिरसमूहं प्रकाशयति ॥

भावना से विशुद्ध अल्प अनुष्ठान भी कर्म रूपी मल को नष्ट कर देता है; ठीक उसी प्रकार जैसे लघुकाय सूर्य अन्धकार के पटल को नष्ट कर देता है।

अभिप्राय यह है कि भाव करणी का प्राण है। भावना शुद्ध है तो करणी शुद्ध है भावना समीचीन है तो करणी समीचीन है। और यदि भावना दूषित है तो करणी भी दूषित हो जाती है।

मिथ्यादृष्टि की भावना दूषित होने के कारण उसकी करणी भी निर्दोष नहीं हो पाती। वह सकायनिर्जरा रूप फल को प्राप्त नहीं कर सकता।

'भावना भवनाशिनी' अर्थात् प्रधान रूप से भावना ही भवभ्रमण का निवारण करने वाली है। जब शुद्ध भावना का प्रबल पवन प्रवाहित होता है तो आत्मा रूपी आकाश में छाये हुए सघन कर्म रूपी मेघों का पटल शीघ्र ही विलुप्त हो जाता है। पवन ही मेघो को लाता ह और पवन ही हटाता है। आंधी रेगिस्तान से रेती ले आती है और उससे अंधकार व धुंधलापन छा जाता है। किन्तु जब दूसरा शुद्ध पवन चलता है तो वह उसे उडाकर ले जाता है।

पवन तो चलता ही रहता है, मगर उसमें भेद होता है। जो पवन मरुभूमि से आता है वह रेती लाता है और जो पवन दरिया या पहाड़ो से आता है वह शीतल और स्वच्छ होता है। इसी प्रकार मनुष्य के चित्त में भावनाए तो निरन्तर उत्पन्न होती ही रहती हैं, मगर भावना-भावना मे भेद होता है। शुद्ध भावनाओ से अपने और दूसरों के जीवन मे शीतलता उत्पन्न होती है। वह अशुद्ध भावना रूपी धूल की सफाई कर देती है।

भावना का निर्माण बहुत कुछ वातावरण पर निर्भर होता है। जैसे वातावरण मे मनुष्य रहता है, वैसी ही उसकी भावना बन जाती है। अगर मिथ्यादृष्टि और पाखंडी की संगति की जाती है तो भावना खोटी हो जाती है, जिससे कर्म रूपी-धूल आत्मा रूपी आकाश में छा जाती है।

हमें अपनी भावना को इस प्रकार संभालना चाहिए कि जिससे हमारे जीवन में आज जो श्वानवृत्ति है, वह दूर हो जाय और उसके स्थान पर सिंहवृत्ति का आविर्भाव हो।

मनुष्य को दर्पण के समान होना चाहिए, ऐनक अर्थात् चश्मा के समान नहीं होना चाहिए। दर्पण और ऐनक दोनों ही कांच हैं, पर दोनों की प्रकृति में बड़ा अन्तर है। ऐनक दूसरों को देखता है। दूसरा काला है या गोरा है, लम्बी नाक वाला है या नकटा है, यह देखना उसका काम है। वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, अपने को नहीं देखता। मगर दर्पण पहले अपना भान कराता है। वह अपने गुणावगुण को दिखलाता है। वह महान् है।

बहुत लोग अपने दोष न देखकर दूसरो के दोष ही देखा करते हैं। उन्हें अपना बड़े से बड़ा दोष भी नहीं दिखता और पराया छोटा-सा दोष भी दिख जाता है। वे अपने स्वभाव से लाचार होकर पर के राई जैसे दोष को भी पहाड़ सरीखा देखते हैं और अपने पहाड़ सरीखे दोष को राई भर भी नहीं देखते। परिणाम उन्हीं के लिए अहितकर होता है। दूसरों के दोष देखते-देखते वे स्वयं दोषों के भंडार बन जाते हैं और फिर भी दूसरों का अपवाद करते रहते हैं। ऐसे लोगों का जीवन अतिशय दोषपूर्ण और मलीन हो जाता है। अतएव मनुष्य को परछिद्रान्वेषी नहीं होना चाहिए।

आपने खुरजी देखी है ? फेरी लगाने वाले नमक, हल्दी आदि सामान उसमें भर लेते हैं। उसे 'खड़िया' भी कहते हैं। छोटी-मोटी अनेक चीजें भर लेने के लिए वह उपयोगी होती है। उसके दो भाग होते हैं। जब वह कन्धे पर डाली जाती है तो एक भाग सामने और दूसरा भाग पीछे की ओर होता है।

तो मनुष्य का जीवन भी खुरजी के समान है। प्रत्येक में गुण और दोष विद्यमान हैं ससार मे कोई मनुष्य ऐसा नही जो एकान्त गुणमय अथवा एकान्त दोपमय हो। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन की खुर्जी के दोष वाले भाग को सामने रक्खे, जिससे उसे अपने दोष दिखाई देते रहे। दोष दिखाई देंगे तो उन्हें दूर करने की इच्छा भी होगी और इच्छा होने पर वे दूर किये जा सकेंगे और गुण वाले भाग को पीछे रखना चाहिए, जिससे उन्हे दूसरे देख सके और आपको उनका अभिमान न हो। अगर अपने गुणों को आगे रक्खोगे तो उन्हें देख कर फूल जाओगे। कहावत है—पमाया ने गमाया। अर्थात् घमंड किया नही कि कमाया हुआ भी चला जाता है।

जीवन को प्रगति के पथ पर अग्रसर करना है तो अपने गुणो को पीछे और दोपो को आगे रक्खो। गुणों के लिए जब सन्तोष का अनुभव करो तो अवगुणों के लिए असतोष भी अनुभव करो। उस असंतोष को दूर करने के लिए यथाशक्य प्रयास भी करो और दृढ़ संकल्प करो कि जीवन में विद्यमान दोषों को हटाये बिना मैं चैन न लूगा। विश्राम न लूंगा, ऐसा करने से निश्चय ही आपका जीवन दोष मुक्त और गुणयुक्त जायेगा।

लेकिन जो बात अपने दोषों और गुणों के सम्बन्ध में है। वहा दूसरों के गुण-दोषो के सम्बन्ध में न समझो। जब दूसरों के जीवन की ओर दृष्टिपात करो तो उसके गुणो का देखने का प्रयत्न करो। दूसरे के दोषों को देखने से तुम्हारा हित नही, अहित ही होगा। परकीय दोष देखना प्रथम तो अपने आप मे ही एक दोष है और फिर उसमे दोषो को ग्रहण करने को वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। लाभ कुछ होता नही।

मगर दुर्जनों का स्वभाव कुछ निराला ही होता है। वे अपने दोषों को पीछे फेंक देते हैं और गुणों को आगे करके इतराते हैं। साथ ही दूसरे के सद्गुणों को छिपाते हैं या उन्हें भी दोष रूप मे प्रकट करते हैं। दूसरे के दोषो को बड़ी जल्दी ग्रहण कर लेते हैं। एक कवि कहते हैं :—

दुर्जनो दोषमादत्ते, दुर्गन्धमिव शूकरः।
सज्जनश्च गुणग्राही, हंसः क्षीरमिवाम्भसः॥

जैसे शूकर दुर्गंधि को ग्रहण करता है उसी प्रकार दुर्जन परकीय दोषों को ग्रहण कर लेता है। और जैसे हंस पानी मे से दूध-दूध को ग्रहण करता है, उसी प्रकार सज्जन दोषों के समूह में भी गुण को छांट कर ग्रहण कर लेता है।

छोटी-छोटी सूक्तियों से बात सहज ही समझ में आ जाती है। साहित्य में सरल बोध भी होना चाहिए और गम्भीरता भी होनी चाहिए और साथ ही उसे रुचिकर भी होना चाहिए। गंभीर बात को कोई-कोई समझ पाता है, परन्तु छोटे-छोटे वाक्यो को सब सहज ही समझ लेते हैं। मैं कहूंगा कि साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसे गंभीर चिन्तक भी समझ सके और साधारण-स्तर वाला भी समझ ले।

आप जानते हैं कि बहुमूल्य मोती तो सागर की गहराई मे ही मिलते हैं। उनके लिए गहरा गोता लगाना पड़ता है। ऊपर की सतह पर पानी मिल सकता है। उससे प्यास बुझ सकती है, नहा-धो सकते हैं, मगर मोती नहीं मिल सकते।

भगवान् की वाणी में एक पैसे से लेकर अरबों-खरबों तक के मूल्य की वस्तुएं हैं। जिसके पास जैसी योग्यता की पूंजी है, वह उसी के अनुसार वस्तु ग्रहण कर सकता है।

गुणस्थानों की रचना इसी आधार पर है। जिसका जैसा क्षयोपशम होगा, वह उसी के अनुसार गुणस्थान प्राप्त कर सकेगा। कोई मिथ्यात्व से निकल कर तीसरे गुणस्थान में, कोई चौथे मे, कोई पांचवें में तो कोई-कोई भाग्यशाली छठे गुणस्थान में पहुच जाता है।

यद्यपि स्थूल रूप से चौदह गुणस्थान बतलाये गये हैं तथापि यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो असख्यात भेद होते हैं। यही नही, एक-एक गुणस्थान मे भी असंख्यात गुण तरतमता है। एक ही गुणस्थान के अनेक जीवों के अध्यवसाय भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। इस कारण उस गुणस्थान में भेद होता है। साथ ही एक जीव की अपेक्षा भी एक गुणस्थान मे असंख्य भेद होते हैं, उसकी परिणामधारा के आधार पर।

गुणस्थान एक प्रकार की नसैनी—सीढ़ी है। नसैनी मे ऊपर-नीचे की ओर अनेक पाये होते हैं। उन पर बैठे हुए लोग सामान्य रूप से सब नसैनी पर बैठे कहलाते हैं, फिर भी वे एक ही स्तर पर नही होते। कोई नीचे, कोई ऊपर और कोई उससे भी ऊपर होता है। इसी प्रकार जगत् के सब जीव गुणस्थानों में स्थित हैं, पर सब का दर्जा समान नही है। कोई सबसे नीचे के पाये पर स्थित है तो कोई सबके ऊपर वाले पर। फिर भी साधारणतया वे कहलाते हैं नसैनी पर ही।

सज्जनो! कहां तक कहा जाय, भगवान् की वाणी में अनेक रत्न भरे पड़े हैं। एक श्रीउत्तराध्ययनसूत्र को ही लीजिए। उसमें क्या नही है? चारों अनुयोगों का बड़ा ही सुन्दर समन्वय है। उसमें धर्मकथानुयोग भी है, द्रव्यानुयोग भी है, चरणानुयोग भी है, करणानुयोग भी है। सम्यक्त्वपराक्रम नामक २९वां अध्ययन ऐसा है जिसमे छोटे-छोटे वाक्यों मे महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर हैं। उसमें सामयिक

स्वाध्याय, स्वधर्मिवात्सल्य आदि का फल पूछा गया है। प्रभावना के विषय में प्रश्नोत्तर किया गया है। आठ उपायो से शासन की प्रभावना होती है। धर्म से गिरते हुये स्वधर्मी को धर्म पर स्थिर करना तथा गरीब स्वधम की सहायता करना श्रावको का प्रधान कर्त्तव्य है।

सघ की रचना करने का उद्देश्य क्या हे ? यही तो कि स्वधर्मी जन आपस में एक दूसरे की सहायता करे, समय पर काम आवे। एक व्यक्ति कितना ही साधन-सम्पन्न क्यो न हो, दुनियां में उसे भी दूसरों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती ही है। अगर समय पर एक दूसरे की सहायता करता रहे तो सब की कठिनाइयां सरलता से हल हो जाती हैं और किसी को विशेष परेशानी नही होती।

जैसे व्यावहारिक जीवन मे पारस्परिक सहयोग अपेक्षित है, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे उसकी आवश्यकता है। यही कारण है कि व्यावहारिक क्षेत्र में परिवार के नाम से या जाति आदि के नाम से संगठन निर्माण किये गये हैं तो धार्मिक क्षेत्र में भी सघ के नाम से सगठन स्थापित किया गया है। संघ मे विपुल शक्ति निहित होती है, क्योकि वह विभिन्न व्यक्तियो की शक्तियो का केन्द्र होता है। अतएव जो महान् कार्य व्यक्ति की शक्ति से साध्य नही है, वह भी सघशक्ति से सुसाध्य हो जाता है।

इस तथ्य को समझने के लिए शरीर का ही उदाहरण लीजिए। यह शरीर विभिन्न अगोपागो का एक संघ-समूह है। इससे आप अनेक कार्य करते हैं। यदि इसमें सम्मिलित अगो और उपाँगो को पृथक्-पृथक् कर दिया जाय तो वे किस काम के रहेगे ? वस्तुतः

संगठन मे ही शक्ति है। विखरा-बिखरा व्यक्ति न लौकिक यात्रा सम्पन्न कर सकता है और न धार्मिक यात्रा ही।

मगर संघ नाममात्र का नही होना चाहिए। सच्चा संघ वही है जिसकी प्रत्येक इकाई दूसरी इकाई की सहायिका हो। यही स्वधर्मिवात्सल्य का महत्त्व है। अगर स्वधर्मी भाई की कठिनाई में आप सहायक नही होते तो वह कैसे अनुभव करेगा कि मैं एक वड़े सघ की इकाई हूँ ? सघ की उपयोगिता भी कब और कैसे सिद्ध होगी।

सज्जनो ! संघ का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह अपने निराश्रित भाई-बहिनों का ख्याल रक्खे। तालाव या नदी में सभी छोटे-मोटे प्राणी पानी पीते हैं। यहां बड़ी विरादरी है, बड़ा सघ है और बड़ी पोषधशाला है तो उसका कर्त्तव्य भी बड़ा होना चाहिए। समाज में जो साधनहीन हैं उन्हें प्रेमपूर्वक अपनाना चाहिये।

कोई वड़ी इमारत हो और उसकी छत मे वर्षा का पानी निकलने के लिये परनाला न रक्खा जाय तो इमारत को ही हानि पहुंचती है। ऐसी इमारत अधिक दिनो तक नही टिक सकती। अतएव परनाला रखना और पानी का निकालना आपके ही हित मे है। तो आप भी कुछ परनाले रक्खो, जिससे आपकी इमारत सुरक्षित रह सके। कितने ही नवयुवक समाज में गरीब और साधनविहीन हैं। वे शिक्षा के इच्छुक हैं पर अर्थाभाव के कारण शिक्षा ले नही सकते। उनकी ओर भी आपका ध्यान रहना चाहिये। हर प्रकार से उनकी सहायता करना और साथ ही उनके गौरव को ठेस न पहुंचने देना आपका कर्त्तव्य है।

दूध के लोभ से तो सब लोग गायो को संभालते हैं, पर खूबी इसमें है कि दूध के लोभ के बिना, बिनादूध की गायों की भी सार

संभाल की जाय। स्वार्थभाव से किसी की सेवा करने मे विशेषता नही है। निस्वार्थसेवा ही प्रशसनीय होती है।

अगर आप अपने साधर्मी भाइयो की बराबर सार-संभाल करते रहेगे तो वे पथ से विचलित नही होगे। जो पक्ष से विचलित और भ्रष्ट हो जाते हैं, मुक्ति उनके लिये दूर है। इसके विपरीत, जिनका समकित, देशविरति या संयम सुरक्षित है, उनके लिये वह सन्निकट ही है। मार्ग भूल जाने वाले के लिये मार्ग बतलाने वाला परोपकारी होता है। जो उपकारी के उपकार को भूल जाता है, वह बड़ा कृतघ्न माना जाता है। अतएव उपकारी के उपकार को सदैव स्मरण रक्खो और स्वय किसी का उपकार करो तो उसे भूल जाओ। उपकारक किये उपकार को भूल जाय और उपकार्य उसे स्मरण रक्खे, यही दोनों का कर्त्तव्य है।

गम्भीराशय व्यक्ति उपकार करके डीग नहीं मारते। जो डीग मारते हैं, समझना चाहिए कि वे गम्भीर नही हैं, छिछले हैं, तुच्छ हैं। कहा है—

> पूरा तो छलके नही, जो छलके सो अद्धा।
> घोड़ा तो रैंकै नही, जो रैंकै सो गद्धा।

कवि कहता है—भरा हुआ घड़ा छलकता नही है। कई बाइयां मस्तक पर दो-दो घड़े रख कर चलती हैं, परन्तु वे भरे होते हैं तो छलकते नही। अधूरे भरे घड़े ही छलकते हैं। घोड़ा रैंकता नही, रैंकने वाला गधा है। तात्पर्य यह है कि गम्भीर हृदय मनुष्य कृत उपकार का बरताव नही करता।

जयपुर की बात है एक श्रावक संवत्सरी की पारणा के दिन चुपके-चुपके गरीब भाई-बाइयों को सहायता पहुंचाया करता। वह

दूध भेजता और उसमें कुछ रुपये डाल देता था। जिसके यहां दूध में रुपये निकलते, वे जब श्रावक के पास जाकर उनका जिक्र करते तो श्रावक यही उत्तर देता—वे आपके भाग्य के हैं।

ऐसे-ऐसे दाता भी मौजूद हैं।

चिड़ी चोच भर ले गई नदी न घटियो नीर।
देतां दौलत ना घटै कह गये दास कबीर।

कूप मे पानी निकाला जाय तो पानी बढता है। घास चूंटने से और ज्यादा बढती है। दान देने से लक्ष्मी बढती है, घटती नहीं।

ऊंचा तो ऊची भजै, नीची भजै अजाण।
जो ऊंचा नीची भजै तो अणचिंती हाण।

बड़ा आदमी नीचा विचार करता है तो समझ लो कि उसके दिन खराब आने वाले हैं। अतएव बड़ो के विचार भी सदा बड़े ही होने चाहिये। विवेकी जनो की भावना क्या होनी चाहिए ?

महावीर स्वामी, मैं क्या चाहता हू ?
फकत आपका आसरा चाहता हू ।
मिलो तुमको पदवी जो निर्वाणपद की,
कि तुम जैसा में भी हुआ चाहता हूं ॥१॥
बता दूं तुम्हे कि मैं क्या चाहता हू,
मैं सारे जहां का भला चाहता हूं ॥२॥

'मैं समग्र विश्व का कल्याण चाहता हूं, सब को सुखी देखना चाहता हू" इस प्रकार की भावना से, जब वह उत्कृष्ट कोटि पर पहुंचती है, जीव तीर्थंकर बनता है। ऊंची भावना से कर्मों की निर्जरा होती है। क्रमश. योगों का निरोध हो जाता है और अन्त मे मुक्ति मिलती है।

मुक्ति का मार्ग अरिहन्त भगवान् ने ही बतलाया है, अतएव उनके गुणों का गान करना, उनके अलौकिक एवं असाधारण गुणों का स्तवन करना प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष का कर्त्तव्य है। जो अपना परमकर्त्तव्य समझ कर आत्म-कल्याण के उद्देश्य से अरिहन्त भगवान् की स्तुति करते हैं, वे अपने जीवन को सार्थक बनाते हैं, भविष्य को मंगलमय बनाते हैं और अन्त में संसार समुद्र से पार हो कर अजर-अमर पद प्राप्त करते हैं।

राजकोट,
६-८-५४

: ७ :

अर्हत्स्तुति

वोर सवसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा सश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचय. हे वीर ! भद्रं दिश ।।

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता. सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्नत्रयाराधका,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ।।

सज्जनो और बहिनो !

कल अरिहन्त भगवान् की स्तुति का महत्त्व बतलाया गया था और कहा गया था कि भगवान् हमारे परमोपकारक हैं, उन्होने मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया है, अतएव उनकी स्तुति करना अपनी कृतज्ञता प्रकट करना है । भगवान् की स्तुति करने से दूसरा लाभ गुणों की प्राप्ति होना है । पूर्वाचार्यों ने भी यह बात प्रकट की है । यथा—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तार कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, बन्दे तद्गुणलब्धये ।।

अर्थात्—जगत् के जीवों को मोक्ष के मार्ग की ओर ले जाने वाले, कर्म रूपी पर्वतों का भेदन करने वाले और समग्रतत्वों के ज्ञाता

अरिहन्त भगवान् को उनके गुणों को प्राप्ति के लिए मैं प्रणाम करता हू।

इस श्लोक में यह ध्वनित किया गया है कि अरिहन्त भगवान् हितोपदेशक हैं, वीतराग हैं और सर्वज्ञ हैं, अतः वही हमारे लिए नमस्करणीय हैं।

हां, यहां एक शंका उठ सकती है कि अरिहन्त भगवान् के गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करना तो ठीक है, पर उनके गुण हमें कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?

गुण गुणी में अर्थात् अपने आधार भूत द्रव्य में रहते हैं। द्रव्य और गुण का संयोग सबंध नहीं है जिससे कि गुण उस द्रव्य में से निकलकर किसी दूसरे द्रव्य में जा सके। गुण और द्रव्य का तादात्म्य सम्बन्ध है, अभेद है, गुणों का समुदाय ही द्रव्य कहलाता है। द्रव्य में से अगर गुणों का पृथक्करण हो जाय तो द्रव्य की कोई सत्ता ही न रह जाय। परन्तु ऐसा कदापि ही नही हो सकता। घडे मे रूप. रस, गध और स्पर्श नामक जो गुण हैं, वे उससे अभिन्न हैं। किसी भी यन्त्र से या किसी भी विधि से उन्हे घडे से पृथक् नही किया जा सकता। जब घड़ेजैसे स्थूल और इन्द्रियगोचर पदार्थ से भी उसके गुण पृथक् नहीं किये जा सकते तो अमूर्त्त आत्मा के गुणो को सर्वज्ञता और वीतरागता आदि को किस प्रकार से आत्मा से पृथक् किया जा सकता है ? यदि पृथक् नहो किया जा सकता तो अरिहन्त के गुण हम में कैसे आ सकते हैं ? ऐसो स्थिति मे अरिहन्त के गुणो को प्राप्त करने के लिये उन्हें नमस्कार करने या उनको स्तुति करने की बात कैसे सगत हो सकती है ?

इस शंका का समाधान यह है कि—निस्सन्देह गुण और गुणी का अभेद सम्बन्ध है और इन्द्र में भी ऐसी शक्ति नही कि वह किसी द्रव्य के गुण को उससे पृथक कर सके। यह भी सम्भव नही कि एक

द्रव्य का गुण दूसरे द्रव्य का गुण बन जाय। एक द्रव्य कभी दूसरा द्रव्य नही बनता, एक गुण कभी दूसरा गुण नही बन सकता और एक द्रव्य का गुण कभी दूसरे द्रव्य का गुण नही बनता। यही कारण है कि इस लोक में आकाश द्रव्य में सभी द्रव्यों का अवगाह होने पर भी वे आकाशद्रव्य नही बन सके। आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय अनादि काल से एक साथ रह रहे हैं। जहां लोकाकाश का एक प्रदेश है, वही धर्मास्तिकाय का और अधर्मास्तिकाय का भी एक-एक प्रदेश विद्यमान है। अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। फिर भी तीनो अपने-अपने स्वरूप में अवस्थित हैं और सदाकाल रहेगे। एक दूसरे के संयोग से उनका कभी विजातीय परिणमन (द्रव्यान्तर) नही होगा। अगर वह सम्भव होता तो कभी का हो गया होता और षट् द्रव्यों का कथन भी गड़बड़ में पड़ गया होता।

ऐसा सिद्धान्त होने पर भी अरिहन्त भगवान् के गुणों की प्राप्ति के लिये स्तुति की जाती है, यह कथन ठीक तरह अपेक्षा को समझ लेने से बाधित नही होता। निश्चयतप की दृष्टि से तत्त्व का विचार किया जाय तो प्रत्येक आत्मा में वही सब गुण विद्यमान हैं जो अरिहन्त भगवान् में हैं। निगोद का जीव भी उन्हीं गुणो से सम्पन्न है। पर भेद यही है कि साधारण प्राणी के वे गुण कर्म रूप उपाधि के कारण आच्छादित हैं और अरिहन्त भगवान् ने उस उपाधि को हटा दिया है, अतएव उनके गुण प्रकट हो चुके हैं। वस्तुत संसारी और मुक्त आत्मा के मूल गुणो में किंचित भी विरूपता नही है, पूर्ण समानता है। इस समानता में अभेद का व्यवहार करके ही ऐसा कहा जाता है कि अरिहन्त के गुणो की प्राप्ति के लिये उनकी स्तुति करनी चाहिये। दूसरे शब्दों में, अरिहन्त के

गुणों की प्राप्ति का अभिप्राय अपनी अरिहन्तस्वरूप आत्मा के शुद्ध गुणो की प्राप्ति समझना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि जब विशुद्ध भाव से अरिहन्त भगवान् के गुणों के प्रति बहुमान प्रदर्शित किया जाता है और उनकी स्तुति की जाती है तो आत्मा मे ऐसी विशुद्धि का आविर्भाव होता है जिसके फलस्वरूप स्तुतिकर्त्ता स्वयं उन गुणों का पात्र बन जाता है।

आप जानते हैं कि जो व्यक्ति धूप से व्यथित हो वह यदि जलाशय के समीप जाता है तो उसे शान्ति मिलती है। पानी उस पर कूद कर नही पड़ता, फिर भी शीतल पवन उसे शान्ति प्रदान करता है। शीतलता के पुद्गल पवन के साथ आते हैं और मनुष्य उनका रोमाहार करता है। शास्त्र में तीन प्रकार के आहार बतलाये हैं—ओज आहार, रोमाहार और कवलाहार। शुरू में जिन पुद्गलो को ग्रहण किया जाता है, वह ओज-आहार कहलाता है। प्रत्येक जीव को अपने जन्म के समय यह आहार करना ही पडता है। यह आहार कार्मणशरीर से होता है। एकेन्द्रिय जीव यही आहार करते हैं। पृथ्वी काय की उत्कृष्ट स्थिति २२ हजार वर्ष की है। इतने लम्बे समय तक वह जीव रोमाहार करके ही जीवित रहते हैं। कवलाहार करने के लिए मुख की आवश्यकता होती है और एकेन्द्रिय को मुख प्राप्त नही होता।

हां, तो ससार से पीड़ित मनुष्य जब नदी, सरोवर आदि जलाशय के समीप जाता है तो वह शीतल पुद्गलों को ग्रहण करके शांति अनुभव करता है। अगर प्यासा और संतप्त व्यक्ति अग्नि, धूप या नदी रेत की तरफ चला जाय तो उसकी प्यास और भी बढ़ जाएगी।

संसारी जीव क्रोध आदि कषायों से संतप्त है, अशान्त है। अगर वह इन्ही दुर्गुणों की ओर जायेगा तो उसकी अशान्ति दूर नही। होगी, प्रत्युत अधिक बढ़ जाएगी। कोई मनुष्य नमक खाकर धूप में बैठे और चाहे कि उसे प्यास न लगे तो यह सभव नही। प्यास का निमित्त जुटाया है तो प्यास लगेगी ही। खोटी संगति करने से और दुर्गुणों की ओर जाने से दुर्गुण बढ़ते हैं और अशान्ति मिलती है।

जब हमारा मन प्रभुगुणों को अपने में स्थापित करता है, प्रभुगुणों में तल्लीन होता है तो प्रभुमय बन जाता है। उस समय वह विषयविकारों से निवृत्त हो जाता है। शास्त्र में कहा है—

जुगवं दो णात्थि उवओगा।

अर्थात् – एक साथ दो उपयोगों की प्रवृत्ति नही होती।

इस कथन के अनुसार मन में भी दो उपयोगो की प्रवृत्ति एक साथ नही हो सकती। कई लोग समझते हैं हमारे मन में एक साथ दो विचार आ गये, परन्तु उनका यह समझना भ्रम है। समय अत्यन्त सूक्ष्म है और मन भी अतीव चपल है। वह शीघ्रता के साथ प्रवत्ति करता है। इस कारण पता नहीं चलता कि उसने कब क्या विचार किया है ? किन्तु यह निश्चित है कि मन जब एक विचार करता है तब दूसरा विचार नही कर सकता। पानी में तैरते समय सर्दी और गर्मी का अनुभव होता है, पर उस अनुभव में भी सूक्ष्म समयभेद है जो साधारण तौर पर हमारी समझ में नही आता। परन्तु एक उपयोग एक समय में एक ओर ही लगता है, अनेक ओर नही। जिस समय शीतवेदना का उपयोग होता है, उस समय उष्णवेदना का अनुभव नही होता और जब उष्णवेदना का अनुभव होता है तब शीतवेदना का अनुभव नही होता।

इसी प्रकार मन जब अरिहन्त भगवान् के गुणों के साथ सम्बद्ध होता है, तब राग द्वेषमयी परिणति बन्द हो जाती है, विषय-विकारों का चिन्तन दूर हो जाता है। वीतरागता में तल्लीन होने के कारण वह राग-द्वेष की ओर नही जाता। यह आत्मा का महान् लाभ है। जितने भी क्षण वीतरागतापरिणति इस आत्मा में जागृत रहे, उतने क्षण अपूर्व लाभ के हैं। थोड़े से क्षणों में भी आत्मा को कल्पनातीत लाभ की प्राप्ति हो सकती है।

प्रत्येक समय अन्नतानन्त कर्मपरमाणुओ का बंध होता है। अतएव एक समय की शुभ परिणति भी अनन्त शुभ कर्मों के बंध का कारण हो सकती है। अगर शुद्ध भावना जागृत हो तो अनन्त कर्मो की निर्जरा भी हो सकती है। यह तो तात्कालिक लाभ है जो साधारण नही है। उस अल्पकालीन शुभ परिणति के सस्कार अगर आत्मा मे स्थायो रूप धारण कर लेते हैं तो स्थायी महान् लाभ भी प्राप्त होता है।

सज्जनो! अगर आप अपने मन को प्रभु के गुणो में तदाकार कर लें तो विकार अपना स्थान छोड देंगे, क्योंकि गुणचिन्तन के समय दुर्गुणचिन्तन नही हो सकता। यह दोनो परस्पर विरोधी हैं—रात और दिन की तरह। अच्छे विचारों मे लग जाना ही शाति है। शुभ विचार ही सुख है। कई लोग इन्द्रियो के विषयो में सुख समझते हैं परन्तु उन विचारो को प्रभुगुणचिन्तन के अद्भुत आनन्द का पता नही है। इसी कारण वे नीरस विषयसुख को ही सुख समझते हैं।

विषय-सुख-वास्तविक सुख होता और बाह्य पदार्थो से सुख प्राप्त करना संभव होता तो चक्रवर्ती जैसे महान् पुरुष उनका त्याग करके क्यों योग धारण करते? क्यों संसार के सर्वोत्तम पदार्थों को ठुकरा कर प्रभु की उपासना करने के लिए तत्पर होते? मगर चक्रवर्ती

के सुख की अपेक्षा भी योगियों का सुख महान् है। शास्त्रो में स्पष्ट रूप से घोषणा की गई है—

बालभिरामेसु दुहावहेसु, न तं मुह कामगुणेसु राम।
विरत्तकामाण तवोधणाणं, ज भिक्खुणो सीलगुणेस्याण ॥
—श्री उत्तराध्ययन, अ० १३.

जो शान्ति योगी जनों को मिलती ह वह कामभोगों में निरत रहने वाले कामियों और भोगियों की नसीब नही हो सकती। यह कामभोग वच्चो को हो भले लगते हैं अर्थात् जिनकी विवेक वुद्धि जागृत नही हुई है, वही इन्हें पसद करते हैं। ज्ञानी जनो को इनमें कुछ भी रस नही अनुभव होता। वे जानते हैं कि विषयभोग दु खजनक हैं। इन्हें जीवन मे स्थान देने से जीवन नष्ट होता है, सडता है, गलता है और भविष्य में नरक आदि अधोगतियो की व्यथाएं सहन करनी पड़ती हैं। इस प्रकार दु.ख के कारण होने से ये दुःख रूप ही हैं।

जो कामभोगो से विरक्त हो चुके हैं, सासारिक ऐश्वर्य को तुच्छ मान कर जिन्होने तपश्चर्या को ही परमधन समझा है और शील-गुण में रमण कर रहे हैं, उन तपोधन भिक्षुओं को निराकुलता का अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। उस आनन्द का साक्षात् अनुभव वाणी द्वारा प्रकट नही किया जा सकता। उसका साधारण रूप में प्रकाशन-मात्र किया जा सकता है।

वास्तव में सुख आत्मा का गुण है और वह आत्मा में ही पाया जा सकता है। जड़ पदार्थो में सुख कहा ? हां, जड पदार्थ सुख में निमित्त वन सकते हैं, परन्तु उसी अवस्था में जवकि विवेकपूर्वक उनके स्वरूप का विचार किया जाय। जैसे ससारानुप्रेक्षा मे विचार किया जाता है कि यह जीव कर्मों के वशीभूत होकर नरक स्वर्ग आदि

गतियों में परिभ्रमण करता है। इस प्रकार विचार करने से मन अनित्य और अशरण भावनाओं में केन्द्रित हो जाता है। उस समय यह विचार वलवान् हो जाता है कि विश्व का कोई भी पदार्थ सदैव एक रूप में नही रहता। सब की सूक्ष्म पर्यायें प्रतिक्षण पलटती रहती हैं। मैं जिन पदार्थों के लिए प्रयत्न कर रहा हूं और जिनके पीछे आत्मकल्याण को भूल रहा हूं, वे अनित्य हैं। पुद्गल की जघन्य स्थिति एक समय की और उत्कृष्ट स्थिति असख्यात काल है। इससे अधिक समय तक कोई पदार्थ तद्रूप नही रह सकता।

जब अशरण भावनाका चिन्तन करता है तो सोचता है धन,धान्य, भवन, स्वजन, परिजन आदि कोई भी वस्तु इस जीव को दु ख से नही वचा सकती। जब असातावेदनीय का प्रबल उदय आता है तो सुख के साधन भी दु.ख के कारण बन जाते हैं। आयु पूर्ण होने पर आने वाली मृत्यु का न सेना रोक सकती है न विविध प्रकार के शस्त्रास्त्र रोक सकते हैं, न धन-दौलत रोक सकती है और न देवी-देवता रोक सकते हैं।

अनाथी मुनि का दृष्टान्त सामने हैं। उन्हें ससार के सभी सुख-साधन सुलभ थे। माता-पिता थे, भाई-बहन थे, आज्ञाकारिणी पत्नी थी। धन का भण्डार भरपूर था। एक बार उन्हे शारीरिक पीड़ा उत्पन्न हो गई। वैद्य आये, उन्होने अपने ज्ञान का पूरा-पूरा प्रयोग किया, परन्तु हार मान कर रह गये। कुटुम्बी जनो ने बहुत चाहा कि वह पीड़ामुक्त हो जाएँ, पर उनका मनोरथ सफल न हुआ। जब किसी का कोई उपाय कारगर न हुआ तव आत्मविचार आया। उस आत्मविचार ने उन्हे रोगमुक्त कर दिया।

हमे उतना धैर्य प्राप्त नही है, अतएव रोग होते ही वैद्यो के पास भागे जाते हैं। यह व्यवहारमार्ग है। परन्तु जिसे कर्मसिद्धांत पर दृढ़

आस्था है और जिसमें सहनशीलता है उसे दवा की आवश्यकता नही है। पंजाब की महाविदुषी चरित्रशीला महासती पार्वती जी की शिष्या राजमती जी थी। गत वर्ष उनका स्वर्गवास हुआ है। अस्सी वर्ष से अधिक उनकी उम्र हो गई थी। वह इस उत्कट वृद्धावस्था में भी औषध का सेवन नही करती थी। समय-समय पर रोग होता और आप ही आप मिट जाता था। आज भी अनेक व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो दवाओ का प्रयोग नही करते। यों साधारणतया दवा रोग शमन में निमित्त होती है और इसी कारण भगवान् ने साधु को भी दवा लेने की छूट दी है।

आरोग्यता डाक्टर की पेटी में नही, वास्तव मे सातावेदनीय की पेटी में निहित है। दु.ख असातावेदनीय की पेटी मे है। वेदनीय कर्म ही सुख-दुःख का अन्तरग कारण है। अन्तरग कारण ही मुख्य होता है। सातावेदनीय का उदय होता है तो वैद्य डाक्टर को सहज ही यश मिल जाता है।

एक बादशाह के पास बड़े-बड़े हकीम थे जो अकसीर दवाएँ रखते थे। एक बार बादशाह को दस्त लगने लगे और अनेक प्रयत्न करने पर भी रुके नही। बादशाह ने हकीमो को बुलाकर कहा—क्या मेरी कष्ट सहन करने की शक्ति की परीक्षा कर रहे हो ?

हकीमों ने कहा—हुजूर, दवाएँ तो एक से एक बढिया दी जा रही हैं।

बादशाह—तो फिर क्या बात है ? क्या किसी देवता ने इन दवाओं की शक्ति अपहरण कर ली है ?

हकीम ने दवा का चमत्कार दिखलाने के लिए एक दवा नदी के पानी में डाली और पानी भी बध गया अर्थात् जम गया। पर ऐसी

चमत्कारिक दवाओं से भी बादशाह को लाभ न पहुँचा। तब हकीमों ने कहा-हुजूर दवाए तो अच्छी हैं पर आपको पूर्व जन्म के पापकर्म भोगने ही पड़ेगे। इस विषय मे हमारी एक दवा काम नही आती।

बात यथार्थ है। जब अन्तरंग कारण असातावेदनीय का तीव्र उदय आता है तो बढिया से बढिया औषध भी कुछ काम नही आ सकती।

सनत्कुमार चक्रवर्ती ने सात सौ वर्षों तक कोढ़ रोग की पीड़ा सहन की।

बात यों हुई। इन्द्र ने अपनी सभा में सनत्कुमार के रूपसौंदर्य की भूरि-भूरि प्रशसा की। कहा—सनत्कुमार चक्रवर्त्ती के रूप की कोई सानी नही है। इन्द्र के मुख से इतनी प्रशंसा सुन कर एक देव परीक्षार्थ देखने आया। उसने वृद्ध का रूप धारण किया था। सनत्कुमार ने उससे कहा—अभी मैं स्नान कर रहा हूं। मेरा पूरा रूप देखना है तो उस समय देखना जब मैं स्नान करके, आभूषण धारण करके, मुकुट बांध कर सिंहासन पर आसीन होऊ।

बूढ़े ने कहा—हां, वह भी देख लूंगा।

सनत्कुमार सजधज कर सिंहासन पर बैठा। वह बूढा बुलाया गया। बूढे ने सनत्कुमार को गहरी निगाह से देख कर कहा—'वह पानी मुलतान गया!' 'राई का भाव रात को ही चला गया।'

एक चोर किसी साहूकार के घर मे घुसा। घरवाली ने अपने पति से कहा—चोर घर में घुस आया है।

साहूकार बहुत बुद्धिमान था। उसने पत्नी से कहा भाग्यवती राई का थैला कहां रक्खा है?

घरवाली—अभी राई का क्या काम है?

साहूकार—भोली कहीं की ! आज राई की कीमत बहुत बढ़ गई है। लड़ाई शुरू हो गई है। पाच हजार रुपयों की एक तोला बिकती है।

यह वार्त्तालाप सुन कर चोर ने सोचा—पांच हजार रुपया तोला ! यह तो सोने से भी बहुत महंगी है। राई ही उठा कर ले जाना चाहिए।

उसी समय सेठ ने पूछा—तो राई का थैला रक्खा कहा है ?

सेठानी ने जगह बतला दी ; घर के दाहिने कोने में।

चोर राई का थैला उठा कर ले गया। प्रात.काल होने पर वह राई को लेकर बाजार मे बेचने गया तो किसी ने ध्यान ही नही दिया। एक ने रुपये की दस सेर मागी। चोर यह भाव सुन कर दग रह गया। कहा पाँच हजार रुपया तोला और कहा एक रुपये का दस सेर !

चोर ने सोचा—जिस सेठ के घर से यह राई लाया हू, वही इसकी ठीक कीमत जानता है। उसी को तलाश करना चाहिए। खोजते-खोजते वह उसी सेठ के पास जा पहुचा। उससे राई का भाव पूछा तो उसने भी वही दो घड़ी का भाव बतला दिया।

चोर ने कहा—सुना था कि राई पाँच हजार रुपये तोले हो गई है, पर यहां तो मिट्टी-मोल मंग रही है।

सेठ ने मुस्करा कर कहा—राई का भाव रात को ही गया !

वणिक बडा होशियार था। उसने अपना घर बचा लिया।

तो सनत्कुमार चक्रवर्त्ती का रूप देख कर उस बूढ़े ने भी कहा—राई का भाव रात को ही चला गया।

सनत्कुमार ने पूछा—वृद्ध, देख लिया मेरा रूप ?

वृद्ध—जी हां, देख चुका। वह झलक चली गई। साता का उदय बीत गया। अब असाता का उदय आ रहा है।

राजा ने समझा—बूढा सठिया गया है। उसने कर्मचारियों को आदेश दिया—इसे यहां से ले जाओ। इसकी अक्ल ठिकाने नही है।

बूढा—राजन्, आप अपनी अक्ल सभालिये। सुख के दिन चले गये। दिन गया, रात आई है। तुम्हारे शरीर में कोढ का श्रीगणेश हो गया है। शका हो तो पीकदानी में थूक कर देख लीजिये।

राजा ने पीकदानी लाने का आदेश दिया ही था कि असाता-वेदनीय का प्रबल उदय आ गया। खून का कुल्ला आने लगा। देखते-देखते शरीर एकदम विवर्ण और विद्रूप हो गया। लोहू और राध निकलने लगा।

सनत्कुमार ने यह देखकर सोचा—जिस पर मुझे अभिमान था, उसी ने दगा दिया! जिसे में दिव्य वरदान समझ रहा था, वह भयकर अभिशाप सिद्ध हो रहा है। इस प्रकार विचार करते-करते उसकी विचारधारा ने अशुचि भावना के क्षेत्र में प्रवेश किया। सोचा—धिक्कार है इस शरीर को और संसार को! यह सब इतना निस्सार है। इस प्रकार विचार आते ही उस पुण्यवान् जीव ने राज-पाट त्याग कर प्रतिज्ञा कर ली—कि, जीवन पर्यन्त औषधोपचार न करूंगा! किये कर्मों का विपाक धैर्य के साथ भोगूंगा।

यह उस समय की बात है जब मनुष्यों की आयु बहुत लम्बी होती थी। सनत्कुमार को कर्मफल भोगते एक, दो, पच्चीस, पचास नही, सात सौ वर्ष हो गये। इतने लम्बे समय तक उन्होने कुष्टवेदना सहन की, पर दवा न करवाई तब इस दृढता की इन्द्र ने प्रशंसा की। अन्यान्य देवो ने तो इन्द्र की बात मान ली, परन्तु एक देव को उनकी यह प्रशंसा सह्य न हुई।

कुछ लोगो का ऐसा स्वभाव होता है कि वे परप्रशसा को सहन नही कर सकते। ऐसे ईर्ष्यालु और चुगलों की आदत बड़ी बुरी होती है। कहा है—

कथा का कथैया चूके वेद का पढैया चूके,
चूक जात चतुर चितेरो चित्रकारी कौ।
नाटक भजैया चूके, कला को सिखैया चूके,
चूकै उमराव जो करैया फौजदारी कौ।
कहै कवि केसोदास और सभी चूक जात,
एक नही चूकता चुगल चोट मारी कौ॥

एक व्यक्ति ने परमात्मा से प्रार्थना की है—

आग मे जलाय दीजौ पानी में बहाय दीजौ,
खड़्ग दुधार से उतार शीश लीजिए।
मातंग झकाई दीजौ गरल पिवाइ दीजौ,
बिच्छु पै डसाई अहिमाल गल कीजिए।
पहाड़ से गिराय दीजौ सर्वस्व मिटाय दीजौ,
सेना जो समेत जम गई भख लीजिए।
एते दुःख कहे नाथ सो तो है सुगम बात,
एक चुगलखोर को पडौस मत दीजिए॥

कोई भुक्तभोगी होगा। वह परमात्मा से प्रार्थना करता है—

हे नाथ! ससार मे भयानक से भयानक जो दुःख हो सकते हैं, उन सब को मैं सहन कर लूंगा, परन्तु दया करके चुगलखोर का पडौस मत देना। मैं उसके पड़ौस के दुःख को सहन नही कर सकूंगा। सच है—अच्छा पडौस मिलना भी पुण्योदय का फल है। खराब पड़ौस होता है तो रात-दिन झिकझिक होती रहती है, परिणाम मलीन रहते हैं और आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान में बहुत-सा समय व्यतीत होता है।

हाँ, तो सब देवो ने इन्द्र की बात मान ली कि सनत्कुमार धैर्य के साथ कर्मफल भोग रहा है और औषधोपचार नही करवाता। मगर एक देव को उसकी प्रशसा पर विश्वास न हुआ। वह वैद्य बन कर गली-गली में फेरी लगाने लगा। सनत्कुमार की परीक्षा करने के उद्देश्य से वह अवसर को खाज करने लगा।

एक बात बीच मे याद आ गई। किसी जगह मेला लगा था। नाटक करने वाले, गाने-बजाने वाले तथा बहुसख्यक सैलानी उसमें सम्मिलित हुये थे। एक बाबाजी, जिनके पास कम्बल था, लोगों की भीड़ में घुस कर तमाशा देखने लगे। जगल में रहने वाले बाबाजी वह तमाशा देखने मे मस्त हो गये। उसी समय किसी उचक्के ने मौका देख कर उनके कम्बल पर हाथ साफ कर दिया।

चोर समदर्शी होते हैं। वे धनी-निर्धन का भेद नही समझते। साधु-सन्तों को भी नही छोड़ते। सादड़ी-सम्मेलन में एक व्यक्ति साधुओ के तीन कम्बल और कुछ पात्र ही चुरा कर ले गये।

हमने बम्बई से विहार किया तो एक आदमी, इसी प्रान्त का बम्बई वाले गिरधरलाल भाई ने हमारे साथ कर दिया। वे भी उसे पहचान न सके। वह आगे-आगे पत्र देता और रुपये इकट्ठे किया करता था। सुना है, अब वह पकड़ा गया है।

तो मेले मे बाबाजी को भी ऐसा ही कोई समदर्शी मिल गया और वह कम्बल लेकर चम्पत हो गया। बाबाजी सोच में पड़ गये कि अच्छा मेला देखा, कम्बल के बिना काम कैसे चलेगा? वह बहुत दुःखी हुये और कहने लगे—काहे का मेला है! यह सब लोग मेरा कम्बल लेने के लिये ही इकट्ठे हुए थे।

भाइयो, जिसे पीर होती है वही जानता है। अपठित आदमी विद्यार्जन के कष्ट का अनुभव नही कर सकता। किसी ने कहा है—

'न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम् ।'

बांझ स्त्री को प्रसव की पीड़ा का पता नहीं चलता ।

तो सनत्कुमार मुनि की परीक्षा के लिये ही वह वैद्य आया था। उसे देख कर मुनिभक्तों ने कहा—हमारे गुरुजी को देखो और उनका इलाज करो ।

वैद्य जी यही तो चाहते थे । वह गुरुजी के पास पहुंचे तो उन्होंने कहा—वैद्यजी, मुझे दो प्रकार के रोग हैं—द्रव्यरोग और भावरोग ।

ढाणांग सूत्र में द्रव्यरोग चार प्रकार के बतलाये गये हैं—(१) देखने में भयंकर परन्तु वेदने में नही, जैसे कंठमाल आदि। (२) देखने में भयकर नही परन्तु वेदने मे भयानक, जैसे सिर दर्द, पेट दर्द आदि। कई लोग, जो कामचोर होते हैं, उदरशूल या शिरोवेदना का बहाना करके काम से जी चुराते हैं ।

एक सेठ की सेठानी खाने में तो बड़ी मुस्तैद थी, पर काम करने का अवसर आता तो पेट का दर्द बता कर पड़ रहती थी। वैद्य ने उसकी नाड़ी देखी, पर कही कोई गड़बड़ नजर नही आई। एक दिन सेठ ने अपनी पत्नी की इस बीमारी से परेशान होकर कहा-मैं तो मुसीबत में पड़ गया। सेठानी बीमार है। दवाई कराने पर भी उसका रोग नही मिटता ।

सेठ के मित्र ने कहा—आपने पहले क्यों नही बतलाया। इतना पर्दा रखने की क्या आवश्यकता थी ?

प्रीति जहाँ पर्दा नहीं, पर्दा जहाँ नहिं प्रीति।
प्रीति करी पर्दा करे, प्रीति नही विपरीत ।।

मित्रता को कायम रखने के लिए यह नियम निर्धारित किये गये हैं :—

१—मित्र को खिलावे, मित्र का खावे।
२—मित्र की सुने, मित्र को सुनावे।
३—मित्र के जावे, मित्र को बुलावे।

मित्र की बात सुनकर सेठ ने कहा—आपसे न कहने का कारण पर्दा करना नही था, वरन् आपको वृथा की परेशानी से बचाना था। सोचा था—व्यर्थ ही आपको दु ख होगा।

मित्र—अच्छा, रोग का चिन्ह बतलाओ।

सेठ—मैं घर जाता हूं तो मुझे देखते ही रोग उठ आता है।

मित्र—मेरे पास एक बढ़िया दवा है। एक हो डोज़ से काम चल जाएगा।

सेठ का मित्र बहुत चतुर था। वह सेठानी की असली बीमारी को ताड़ गया था। उसने शीशी में एक लोशन दे कर कहा—सेठानी जी को कह देना कि रोग होगा तो मिट जायेगा, अन्यथा पीने वाला मिट जाएगा।

सेठ ने यही कहकर सेठानी को दवा दी। सेठानी संकट में पड़ गई। वह जानती थी कि उसे कोई बीमारी नही है। अतएव अगर दवा पी ली तो जान गंवानी पड़ेगी। वह दवा पीने से टालमटोल करने लगी। सेठ ने आग्रह किया—नही, अभी मेरे सामने पीओ।

अन्त में बचाव का कोई मार्ग न देखकर उसने कहा—मैं कर्म-वादिनी हू। अशुभ कर्म के उदय से बीमारी आती है और शुभ कर्म के उदय से चली जाती है। अतः देखती हूं, शायद दो चार दिन में अशुभ कर्म हट जाय। अन्यथा जो होगा सो देखा जाएगा।

कहने की आवश्यकता नही कि सेठानी उन दो-चार दिनों में ही ठीक हो गई। बार-बार आने वाला बीमारी का दौर अचानक ही गायब हो गया।

हां, तो तीसरे प्रकार की बीमारी देखने में भी भयकर और भोगने मे भी भयंकर होती है, जैसे कोढ़। और चौथी तरह की बीमारी वह है जो न देखने में भयंकर होती है और न भोगने में ही।

इनमें से मुनि सनत्कुमार को तोसरे प्रकार का रोग था। मुनि ने उस वैद्य से कहा—द्रवरोग का मूल निदान भावरोग है। जब तक भाव-रोग विद्यमान रहेगा, द्रव्यरोग मिट नही सकता। एक बार दबेगा भी तो दूसरी बार उभर आएगा। ऐसी चिकित्सा हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ और विडम्बना-मात्र है।

हाथी को नदी या तालाब आदि में स्नान कराया जाता है महा-वत मल-मल कर उसके शरीर को साफ सुथरा करता है। परन्तु ज्यों ही वह पानी से बाहर निकला कि सूंड से धूल उठा अपने ऊपर डाल फिर अपना शरीर भर लेता है। ऐसी स्थिति में वह स्नान क्या काम आया ?

इसी प्रकार एक बीमारी उत्पन्न हुई और उसकी चिकित्सा करवाई। मगर अशुभ कर्म के उदय से पुनः कोई दूसरी बीमारी पैदा हो गई। इससे लाभ क्या है? आवश्यकता इस बात की है कि बीमारी के मूल को समाप्त किया जाय। बीमारी का मूल असातवेदनीय कर्म है। उसे ही नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही बुद्धिमता का लक्षण हैं।

तो सनत्कुमार मुनि ने यही कहा—अगर भावरोग का इलाज कर सकते हो तो कर दो। द्रव्यरोग का इलाज कराने में मेरी कोई दिलचस्पी नही है।

तपस्या में अट्ठाईस प्रकार की लब्धिया उत्पन्न होती हैं। पजाब के पूज्य सोहनलाल जी महाराज के पूर्ववर्त्ती श्री अमरसिहजी महाराज

१—मित्र को खिलावे, मित्र का खावे।
२—मित्र की सुने, मित्र को सुनावे।
३—मित्र के जावे, मित्र को बुलावे।

मित्र की बात सुनकर सेठ ने कहा—आपसे न कहने का कारण पर्दा करना नही था, वरन् आपको वृथा की परेशानी से बचाना था। सोचा था—व्यर्थ ही आपको दुःख होगा।

मित्र—अच्छा, रोग का चिन्ह बतलाओ।

सेठ—मैं घर जाता हूं तो मुझे देखते ही रोग उठ आता है।

मित्र—मेरे पास एक बढ़िया दवा है। एक हो डोज़ से काम चल जाएगा।

सेठ का मित्र बहुत चतुर था। वह सेठानी की असली बीमारी को ताड़ गया था। उसने शीशी में एक लोशन दे कर कहा—सेठानी जी को कह देना कि रोग होगा तो मिट जायेगा, अन्यथा पीने वाला मिट जाएगा।

सेठ ने यही कहकर सेठानी को दवा दी। सेठानी संकट में पड गई। वह जानती थी कि उसे कोई बीमारी नही है। अतएव अगर दवा पी ली तो जान गंवानी पड़ेगी। वह दवा पीने से टालमटोल करने लगी। सेठ ने आग्रह किया—नही, अभी मेरे सामने पीओ।

अन्त में बचाव का कोई मार्ग न देखकर उसने कहा—मैं कर्म-वादिनी हू। अशुभ कर्म के उदय से बीमारी आती है और शुभ कर्म के उदय से चली जाती है। अतः देखती हूं, शायद दो चार दिन में अशुभ कर्म हट जाय। अन्यथा जो होगा सो देखा जाएगा।

कहने की आवश्यकता नही कि सेठानी उन दो-चार दिनों मे ही ठीक हो गई। बार-बार आने वाला बीमारी का दौर अचानक ही गायब हो गया।

इसी भाँति यमराज झपटता जब प्राणी के ऊपर,
है ऐसा बलवान् कौन जो उसे बचाए भू पर ? ॥

वास्तव में आयु समाप्त होने पर न चिकित्सकों के प्रयत्न कार्य-कारी होते हैं, न धन काम आता है, न स्वजन काम आते हैं। संसार में कोई भी ऐसा शक्तिशाली पदार्थ नहीं जो मृत्यु के आक्रमण को विफल कर सके। हाँ, अगर कोई शरण दे सकता है तो वह है—

कालजयी प्रभु सिद्ध, साधु, जिनधर्म तथा भयहारी,
ले इनका शुभ शरण यही हैं अनुपम मंगलकारी।
भव-अरण्य में है शरण्य इनके अतिरिक्त न दूजा,
मन-मन्दिर में इनकी कर ले शुद्ध हृदय से पूजा ॥

जो भव्य प्राणी अरिहन्त, सिद्ध, साधु और जिनधर्म की शरण लेकर भौतिक पदार्थों से अपना नाता तोड़ लेता है, वही निर्भय और मृत्युंजय बनता है।

अनाथी मुनि और सनतकुमार मुनि ने इन्ही की शरण ली और सब दुःखों का अन्त किया। अगर आप भी दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं तो अरिहन्त प्रभु की शुद्ध हृदय से स्तुति करो, गुणगान करो, ऐसा करने से आप संसार-सागर से तिर जाओगे।

राजकोट
७–८–५४

करनी चाहिए। तपस्या का एक मात्र उद्देश्य कर्मनिर्जरा होना चाहिए।

इस प्रकार आशयविशुद्धि के साथ की हुई तपस्या से जीव उसी प्रकार शुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार आग मे तपाने से सोना शुद्ध हो जाता है।

तो तपस्या का सामर्थ्य असीम है। मुनिवर सनत्कुमार ने तपस्या करके अद्‌भुत शक्ति प्राप्त की थी। उन्होने अपना थूक लगाया कि कोढ मिट गया।

अनाथी मुनि का उल्लेख किया जा चुका है। बड़े-बडे नामी और निष्णात चिकित्सिक झख मारते रह गए, परिवार क लोग रोते गये, परन्तु बीमारी न मिटी। तब उन्हें अशरणता का मान हुआ। वह समझ गए कि संसार का कोई भी पदार्थ जीव को शरण नही दे सकता। सब दिखावटी हैं, काम में आने वाले नही। कहा है—

कर करके उपचार न मैंने स्वजन बचा पाये हैं,
गये पुराने स्वय, स्वयं ही नये-नये आये हैं।
कौन बचाएगा मुझको जब मृत्युदूत घेरेंगे ?
आसपास हो खडे स्वजन सब टुकुर-टुकुर हेरेंगे॥

× × ×

अक्षय धन परिपूर्ण खजाने शरण जीव को होते,
तो अनादि के धनी सभी इस भूतल पर ही होते।
पर न कारगर धन होता है बंधु ! मृत्यु की वेला,
राजपाट सब छोड़ चला जाता है जीव अकेला॥

× × ×

सूने और गहन वन में जब सिह हिरण को पाता,
तब उसकी रक्षा करने को कौन सामने आता ?

इसी भाँति यमराज झपटता जब प्राणी के ऊपर,
है ऐसा बलवान् कौन जो उसे बचाए भू पर ? ॥

वास्तव में आयु समाप्त होने पर न चिकित्सकों के प्रयत्न कार्यकारी होते हैं, न धन काम आता है, न स्वजन काम आते हैं। संसार में कोई भी ऐसा शक्तिशाली पदार्थ नहीं जो मृत्यु के आक्रमण को विफल कर सके। हाँ, अगर कोई शरण दे सकता है तो वह है—

कालजयी प्रभु सिद्ध, साधु, जिनधर्म तथा भयहारी,
ले इनका शुभ शरण यही हैं अनुपम मंगलकारी।
भव-अरण्य मे है शरण्य इनके अतिरिक्त न दूजा,
मन-मन्दिर में इनकी कर ले शुद्ध हृदय से पूजा ॥

जो भव्य प्राणी अरिहन्त, सिद्ध, साधु और जिनधर्म की शरण लेकर भौतिक पदार्थों से अपना नाता तोड़ लेता है, वही निर्भय और मृत्युंजय बनता है।

अनाथी मुनि और सनतकुमार मुनि ने इन्ही की शरण ली और सब दुःखों का अन्त किया। अगर आप भी दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं तो अरिहन्त प्रभु की शुद्ध हृदय से स्तुति करो, गुणगान करो, ऐसा करने से आप संसार-सागर से तिर जाओगे।

राजकोट

७–८–५४

प्रतिज्ञाये लेकर उनमें से एक को भी भग करना अधःपतन का कारण है। प्रतिज्ञा लेना अपने ऊपर एक बड़ी जिम्मेदारी ओढ़ना है। स्वेच्छा से अपने स्वच्छन्द मन पर अकुश लगाना है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को प्रतिज्ञाएं तो लेनी चाहिए जिससे पाप से बचाव हो सके, परन्तु दिखावे के लिए, प्रतिष्ठा के लिए भी नही, अपनी आत्मा को सयम में रखने के लिये प्रतिज्ञा लीजिए और उसे भंग करनेका विचार स्वप्न में भी न आने दीजिए। अपने मन को इस प्रकार तैयार कीजिए कि वह स्वीकृत प्रतिज्ञा के पालन में आमन्द का अनुभव करने लगे और प्रतिज्ञा के विरुद्ध व्यवहार करना विष भक्षण के समान बुरा मालूम होने लगे। जब तक प्रतिज्ञापालन में अन्दर से रस नही होगा, प्रसन्नता और उत्साह के साथ उसका पालन नही हो सकेगा।

दीक्षा के समय 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' की प्रतिज्ञा ली जाती है, जिसमें हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन आदि सभी पापों का त्याग समाविष्ट हो जाता है। यह प्रतिज्ञा कोई साधारण प्रतिज्ञा नहीं है। इसे ग्रहण करने वालों को उसका महत्व पूरी तरह समझना—समझाना चाहिए। व्रत को प्राण से भी अधिक मूल्यवान मानने वाला ही उसका यथार्थ रूप से पालन कर सकता है।

प्रतिज्ञा—प्रत्याख्यान की प्राप्ति होना बडे सौभाग्य का फल है। पूर्ण प्रत्याख्यानी—सर्वविरत मनुष्य ही हो सकता है।

श्रीमद् भगवतीसूत्र में तीन प्रकार के जीव कहे हैं—(१) पच्चक्खाणी (२) अपच्चक्खाणी और (३) पच्चक्खाणापच्चक्खाणी। छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव पच्चक्खाणी अर्थात् सर्वविरत कहलाते हैं। पाचवें गुणस्थान मे वर्त्तमान श्रावक

पच्चक्खाणापच्चक्खाणी है, जिसे देशविरत भी कहते हैं। श्रावक ने चारित्रमोहनीय कर्म का विशेष क्षयोपशम नही किया है, मगर क्षयोपशम किया है, अतएव देश प्रत्याख्यान की प्राप्ति होती है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि प्रत्याख्यान करने की इच्छा एव भावना रखता हुआ भी प्रत्याख्यान नही कर सकता।

पंजाब में मैंने एक वेजिटेरियन सोसाइटी अर्थात् शाकाहारी परिषद् की स्थापना की है। उसके पाच नियम प्रधान हैं :—

(१) स्वय मास-मदिरा का सेवन न करना और सेवन करने वालों को समझा कर त्याग कराना।

(२) बिना मतभेद के अहिंसाधर्म का प्रचार करना।

(३) सदाचारी बनना और बनाना।

आज देश, समाज और जाति की जो अधोगति दिखाई देती है, उसका मुख्य कारण सदाचार का अभाव है। जिस वृक्ष का मूल कट जाता है वह धराशायी हो जाता है। अपने आश्रितों को जो छाया देता था, मधुर फल देता था, वही वृक्ष मूल उखड़ जाने पर आश्रितों पर—नीचे बैठने वालो पर गिर कर दुःख का कारण बन जाता है।

आज रक्षक भक्षक बन रहे हैं, सर्वत्र बेईमानी, घूंसखोरी, अप्रामाणिकता, ब्लेक मार्केटिंग आदि का दौर-दौरा है। समग्र राष्ट्र उससे परेशान है, इसका प्रधान कारण उच्च चरित्र का अभाव है। इस देश के नागरिको में वह सदाचार का भाव जागृत नही है जिस से व्यक्ति भी ऊँचा उठता है, राष्ट्र भी ऊंचा उठता है, राष्ट्रीय गौरव की वृद्धि होती है और सर्वत्र शान्ति का प्रसार होता है।

प्रत्येक क्षेत्र में सदाचारी का मान होता है और सदाचार भ्रष्ट व्यक्ति सबकी निगाह मे गिर जाता है।

मैं यह नही कहता कि दुराचारियों के प्रति घृणा का भाव रक्खो, मैं कहता हूं—उनकी चिकित्सा करो, उनकी दुराचार की बीमारी दूर करने का प्रयत्न करो और साथ ही साथ उसकी छूत से बचो। डाक्टर छूत की बीमारी का इलाज करते हैं, छूत से बचते रहते हैं।

डाक्टर और अस्पताल रोगी के इलाज के लिए ही हैं। कपड़ा मैला हो तो धोना पड़ता है, रूसे को मनाना पड़ता है। फटे कपड़े को सीना पड़ता है और थेगली लगने योग्य न हो तो फेंक भी दिया जाता है।

अगर कोई मनुष्य सदाचार के मार्ग से च्युत हो रहा है तो हमारा कर्त्तव्य है कि उसे ठीक मार्ग पर लाने का यत्न करें। यत्न करने पर भी यदि सफलता नही मिलती और उसका सुधार संभव नही रहा है तो उसका संसग त्याग देना ही हितकर है।

चारित्रभ्रष्ट मनुष्य की बुद्धि और शरीर-शक्ति नष्ट हो जाती है। इसके विपरीत सदाचारी मे चार गुण सुशोभित रहते हैं—यश, लक्ष्मी, सौभाग्य और आरोग्य।

सदाचारी का जीवन वह सुन्दर और सुगधित सुमन है जिसका सौरभ दिगदिगन्त में व्याप्त जाता है और जिससे दूसरों को भी अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती हैं। सुगधित पुष्प अपने गुणों की बदौलत राजाओं के भी मस्तक पर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सदाचारी पुरुष सब का मूर्धन्य बन जाता है। पलाश का पुष्प सुन्दरता में कम नही होता, मगर सौरभ रूप सद्गुण के अभाव में किसी के मस्तक पर नही चढ़ता, वह खिलता है और धरती पर गिरकर मुरझा जाता है। इसी प्रकार इस ससार में पापी जीव आते हैं और चले जाते हैं। उन्हें कोई नही पूछता। कोई उनका आदर नही करता। वे किसी की आंखों

पर नहीं चढ़ते। न उनके आने की किसी को खुशी होती है और न जाने का दुःख होता है; क्योंकि उनके जीवन में सदाचार की सुगन्ध नहीं होती।

रावण प्रतिवासुदेव था। उसका वैभव कुछ कम नही था। मगर खोटी दृष्टि एवं कुत्सिताचार के कारण उसका पतन हो गया। उस का दुराचार उसी को ले डूबा। यही नहीं, उसके कुल के विनाश का भी कारण बन गया।

सदाचारी को आरोग्यता की भी प्राप्ति होती है। हृदय में निरन्तर निवास करने वाली कुवासनाएं मानसिक रोगों को जन्म देती हैं और मानसिक रोगो से शारीरिक रोगो की उत्पत्ति होती है; क्योंकि मन और तन का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनोभावनाओं का शरीर पर तत्काल असर होता है, यह बात सभी जानते हैं। कुवासना स्वयं एक बीमारी है और भयंकर बीमारी है। उसके होने पर नाना प्रकार की अन्य बीमारियां भी उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। रोग का आन्तरिक कारण असाता-वेदनीय तो है ही, परन्तु आचारभ्रष्टता भी एक जबर्दस्त बाह्य कारण है।

सदाचारी व्यक्ति लक्ष्मी का पात्र बनता है। उसके प्रांगण में लक्ष्मी अठखेलियाँ करती हैं।

लक्ष्मी कौन नही चाहता ? ससार में कौन ऐसा मनुष्य है जिसे लक्ष्मी की कामना न हो ? लोगों का सम्पूर्ण जीवन लक्ष्मी की आराधना में ही व्यतीत हो रहा है। मगर लक्ष्मी सभी पर प्रसन्न नहीं होती। किसी बिरले पर ही उसका अनुग्रह होता है। इसका क्या कारण है ? कारण यही है कि लक्ष्मी का जहां दुरुपयोग होता है, अपमान होता है, वहां वह नहीं रहती। मनुष्य अगर अपनी पैशाचिक वासनाओ की पूर्त्ति के लिए लक्ष्मी का उपयोग करता है

तो वह रूठ कर चली जाती है। जहा शराब का दौर चलता हो, वेश्यागमन में उसका उपयोग होता हो, जुआ मे उसका उपयोग किया जाता हो या सात कुव्यसनों में से किसी में भी खर्च किया जाता हो, वहां लक्ष्मी नही ठहरती। यही नहीं, यह दुर्व्यसन मनुष्य के जीवन को बर्बाद कर देते हैं और नरक में ले जाते हैं —

द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या,
पापर्धि चौर्यं परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके,
घोरातिघोरे नरकं नयन्ति॥

(१) जुआ खेलना (२) मास भक्षण करना, (३) मदिरा पीना, (४) वेश्यागमन करना, (५) शिकार खेलना (६) चोरी करना और (७) परस्त्रीगमन करना, यह सात दुर्व्यसन हैं। जीव को यह दुर्व्यसन अत्यन्त घोर नरक मे ले जाते हैं।

दुर्व्यसनी को घोर नरक तो परलोक में मिलता है पर उसका वर्त्तमान जीवन भी नरकमय बन जाता है। जुआरी की कैसी दुर्दशा होती है, यह किसी से छिपा नहीं। जो इस कुव्यसन का शिकार हो जाता है, अपनी जिन्दगी बर्बाद कर बैठता है। साधारण लोगों की बात जाने दीजिए, युधिष्ठिर और राजा नल जैसों को भी इसके कारण कितनी आपत्तिया झेलनी पड़ीं! युधिष्ठिर धर्मराज की पदवी से सन्मानित थे। उनमें सभी गुण मौजूद थे। भीम और अर्जुन आदि जैसे पराक्रमी भाई थे जो उनके आज्ञानुवर्त्ती थे। कुरुदेश का राज्य प्राप्त था। सब कुछ था, परन्तु जुआ ने उन्हें किस मुसीबत मे पटक दिया, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। इस घृणित द्यूत की बदौलत ही उनकी पत्नी द्रौपदी का भरी सभा में, उनकी आंखों के सामने इतना घोर अपमान हुआ कि आज भी उसका

स्मरण करके मन घृणा से भर जाता है। यही नहीं, उन्हें राज्य से हाथ धोना पड़ा, जंगलो में भटकना पड़ा और गुप्त रूप से वास करना पड़ा और दुनिया की कोई विपदा नहीं जो उन्हें न झेलनी पड़ी हो ! राजा नल की भी यही दशा हुई।

जुआ जब ऐसे-ऐसे शक्तिशाली पुरुषो को भी गिरा देता है तो साधारण जनों का क्या पूछना !

आज दुनिया में नये-नये प्रकार के जुए चालू हो गये हैं। सट्टा-फाटका आदि जुए के ही प्रकार हैं, जिनकी बदौलत करोड़पति भी एक दिन में दीवालिया बन जाता है। सट्टेबाज को क्षण भर भी शान्ति नही मिलती। दिन-रात उसका मन बेचैन बना रहता है। सदा आर्त्तध्यान में डूबा रहने के कारण उसका ऐहिक जीवन अशान्त रहता है और जिसका यह जीवन ही अशान्त और अशोभन होगा, उसका अगला जीवन शान्तिमय कैसे बन सकता है ?

इसी प्रकार अन्यान्य दुर्व्यसन भी घोर अशान्ति और दुःख देने वाले हैं। वे जीवन को विषाक्त बना देते हैं। इनकी विद्यमानता में धर्म की जड़ नही जमती। अतएव सम्यग्दृष्टि पुरुष इनसे कोसों दूर रहता है।

अगर तेरे पास बैटरी है तो वह मार्ग देखने के लिए है, कुमार्ग से बचने के लिए है। तू बैटरी रहते भी मार्ग से भटक कर कुमार्ग पर जाता है तो वह किस काम की है ? सम्यग्दर्शन से प्रकाश पाकर तुम्हें सन्मार्ग पर ही चलना चाहिए और दुराचार रूपी कुमार्ग से बचना चाहिए।

प्रत्याख्यान और सदाचार में अन्तरहै। प्रत्याख्यान का दर्जा ऊंचा है। सदाचार जीवन की अनिवार्य खुराक है जैसे दाल-रोटी।

शरीर की दैनिक खुराक है। कहावत है—'खाइए रोटी-दाल, जो निभे जिन्दगी नाल।'

सदाचार मनुष्यता का प्रथम पाठ है। श्रावकत्व और साधुत्व तो आगे की चीजे हैं। सदाचार के पाये पर ही इनका निर्माण हो सकता है। सदाचार के अभाव में इनका कोई अस्तित्व नहीं, कोई सम्भावना नहीं।

मानवशरीर का ढाचा मिल जाना एक वात है और उसमें मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा होना दूसरो वात है। मनुष्य तो अर्वो हैं। मनुष्यों की संख्या २९ अकों से कम नहो होतो। भगवान् अजितनाथ के समय मे सव से अधिक मनुष्य संख्या थी और अग्निकाय के जीवों की सख्या भी उत्कृष्ट थी। असंज्ञी मनुष्य तो असख्यात हैं। उपर्युक्त २९ अक प्रमाण जो संख्या कही है वह संज्ञी मनुष्यों की है। यह सख्या जघन्य भी है और उत्कृष्ट भी है, क्योंकि इसमें भी काफी तरतमता हो सकती है। एक ओर २९ अक हों और दूसरी ओर २९ नौ के अंक हो, तो सामान्य रूप से अंक संख्या समान होने पर भी उसके परिमाण में वहुत अन्तर हो जाता है। एक सौ ग्यारह (१११) की संख्या में भी तीन अंक हैं और नौ सौ निन्यानवे (९९९) मे भी तीन अंक हैं। फिर भी दोनों में वहुत अन्तर है। २९ अक प्रमाण राशि में यह अन्तर तो और भी वड़ा हो जाता है। भगवान् अजितनाथ के समय मे मनुष्यसंख्या २९ अक प्रमाण ही थी, पर उस संख्या को २९ नौ के अको की समझना चाहिए।

हाँ, तो सदाचार मानवजीवन का पाया है। जैसे मकान का स्थायित्व और सौंदर्य उसके पाये पर अवलम्बित है, उसी प्रकार जीवन का स्थायित्व और सौदर्य सदाचार पर निर्भर है। मानवजीवन में सदाचार है तो मानना चाहिए कि उसमें मनुष्यत्व है। अगर

सदाचार नही है तो मनुष्य का ढांचा मात्र है। मनुष्यत्व वहा नही है।

सदाचार होता है तो मनुष्य अपना विकास करके श्रावक और साधु भी बन सकता है। मगर जहा सदाचार हो नही, वहां श्रावकत्व और साधुत्व के लिए अवकाश कैसे हो सकता है ?

खेद की बात है कि आज सदाचार का ह्रास होना दिखाई दे रहा है। जनता के विचार और आचार का निरन्तर अधःपतन होता जा रहा है। आज जैन कुलोत्पन्न भी कई व्यक्ति अंडों, मांस और मदिरा का सेवन करते नही हिचकते। वे भी संसार के पापमय वातावरण के शिकार होते जा रहे हैं। जैनधर्म आचरण प्रधान धर्म है और उसने जीवन की पवित्रता और सात्विकता पर बहुत अधिक बल दिया है। उसके अनुयायी भी यदि इस प्रकार गिर गये तो संसार की क्या स्थिति होगी ? प्रकाशस्तभ का काम कौन देगा ?

माता-पिता का कर्तव्य है कि अपनी सन्तान को सावधानी के साथ सभाले। अपना समग्र ध्यान धन कमाने में ही न लगावे, वरन् सन्तान को परम धन समझ कर उसके निर्माण के लिए भी कुछ समय दे। संतान को जन्म देकर और पाल-पोस कर बड़ा कर देना ही पर्याप्त नही है, उसको संस्कारसम्पन्न बनाने में ही उत्तरदायित्व का निर्वाह है।

यदि पुत्रः कुपुत्रः स्यात्, सम्पदा किं प्रयोजनम् ?
यदि पुत्रः कुपुत्रः स्यात्, सम्पदा किं प्रयोजनम् ? ॥

अगर पुत्र सपूत बनेगा, सदाचारी होगा तो वह आप ही अपने जीवन का निर्वाह कर लेगा। उसके लिए तुझे धन सचित करने की आवश्यकता नही। तू तो उसे सपूत बनाने का ही प्रयत्न कर। अगर पुत्र को सुपुत्र न बनाया और वह कपूत हो गया तो सचित धन को

अपने दुर्व्यसनो की होली का ईंधन बना कर भस्म कर देगा। तेरा सचय क्या काम आएगा ?

हिन्दी भाषा में इसी भाव को यों व्यक्त किया गया है —

पूत कपूत तो क्यो धन संचै,
पूत कपूत तो क्यों धन संचै ?

अभिप्राय यह है कि माता-पिता को सबसे अधिक ध्यान सतान के जीवननिर्माण पर देना चाहिए। उसे सम्पत्तिशाली बना कर छोड़ जाने की अपेक्षा सदाचारशाली बना कर छोड़ कर जाना अधिक बुद्धिमतापूर्ण है। सदाचारी बनाने के लिए उनकी शिक्षा और संस्कार पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

आज शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है और शिक्षा के साधन भी पूर्वापेक्षा अधिक सुलभ हो गये हैं। अनिवार्य शिक्षा का कानून बना देने की बाते भी सुनाई पड़ती हैं। मगर प्रचलित शिक्षा-पद्धति अत्यन्त दूषित है। उसका सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें सत्संस्कारों की बुरी तरह उपेक्षा की जा रही है। जितना शिक्षा प्रचार पर बल दिया जा रहा है उससे अधिक बालकों को सुसंस्कारी बनाने पर बल दिया जाना चाहिये। संस्कार शिक्षा का प्राण होना चाहिए और मैं यहा तक कहना चाहता हूं कि शैक्षणिक योग्यता के आधार पर ही प्रमाणपत्र और पदवी न दी जाकर संस्कार के आधार पर भी दी जानी चाहिये। किसी भी परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त करने के लिये अमुक स्तर के सुसंस्कारों का होना आवश्यक माना जाना चाहिये। इस प्रकार शिक्षा के साथ अगर संस्कारों का समन्वय किया जाय तो देश में उच्च कोटि के व्यक्तित्व से सम्पन्न सदाचारी नागरिक निर्माण किये जा सकेगे और देश के अभ्युत्थानो मे सहायक होगे।

आज एक ओर तो सदाचार और सत्संस्कारों के अभाव का रोना रोया जाता है और दूसरी तरफ शिक्षा में सस्कारों के निर्माण की ओर जरा भी ध्यान नही दिया जाता। इस विचारहीन कार्यपद्धति से देश में सुन्दर नवयुग का निर्माण नही हो सकता। देश के उत्थान के लिए, जाति और समाज के भी उत्थान के लिये सुसस्कारी व्यक्तियो की आवश्यकता है। सुसस्कारी व्यक्ति जादू से नही बनाये जा सकते। इसके लिये शिक्षा-प्रणाली में सशोधन करने की आवश्यकता है।

परन्तु शिक्षा प्रणाली में सुधार करना या न करना सरकार के अधीन है। आप सरकार के भरोसे बैठ कर अपनी सन्तान की उपेक्षा नही कर सकते। आपको व्यक्तिगत रूप से अपनी सन्तान के सुधार की ओर ध्यान देना चाहिये और अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिये।

सुसंस्कारों का अर्थ ऊपरी तडक-भडक नही। बहुत से लोग तो आधुनिक कृत्रिम शिष्टाचार को ही सुसंस्कारों की कसौटी समझ लेते हैं। परन्तु आर्य-संस्कृति के अनुसार सुसंस्कारों का अर्थ है वह उदात्त, सात्विक और प्रशस्त धारणाए जो समूचे जीवन को संचालित करती हैं और जिनके कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व मानवता के उच्च और स्पृहणीय धरातल पर पहुचता है। वे धारणाएं, जो मनुष्य में प्रामाणिकता, न्यायप्रियता, दुर्व्यसनहीनता, धार्मिकता और आध्यात्मिकता का भाव उत्पन्न करती हैं। वे धारणाए जो मनुष्य को दयालु, अहिंसक, परोपकारपरायण और दूसरो के सुख-दु ख को अपना ही सुख-दु ख समझने की उदारता पैदा करती हैं।

इस प्रकार की धारणाए जिस व्यक्ति के जीवन में बद्धमूल हो जाती हैं, वही वास्तव मे सुसस्कारी है और वही सदाचारी है।

अगर आपने देश और समाज को ऐसे संस्कारों वाली सन्तान अर्पित की है तो कहा जायेगा कि आप सन्तानऋण से उऋण हुये हैं और आपने माता-पिता का उत्तरदायित्व निभाया है।

कीड़ो और मकोड़ों के समान सतान को पैदा किये जाना माता-पिता का कर्त्तव्य नही है। सन्तान को जन्म देने के साथ-साथ आप पर उसके जीवन-निर्माण का भी महान् उत्तरदायित्व आ जाता है।

मयूर अपने पखो को और कलगी को देखता है तो उसे प्रसन्नता का अनुभव होता है, परन्तु जब पैरों की तरफ दृष्टि डालता है तो उसे रोना आता है। भगवान् का मार्ग अत्युत्तम है, यह देख कर प्रसन्नता और आह्लाद की सीमा नही रहती, परन्तु उनके अनुयायिओं का अवनत चरित्र देकर दुःख होता है।

पूर्वकाल के श्रावक कितने विश्वासपात्र होते थे ? उनकी प्रामाणिकता का सिक्का सर्वमान्य होता था। किसी भी क्षेत्र में उन पर शका नही की जाती थी। क्या न्यायालयो में और क्या राजा के अन्तःपुर में, क्या दुकान पर और क्या मकान पर, सर्वत्र वे पूर्ण विश्वासभाजन माने जाते थे। परन्तु आज भी क्या वही स्थिति है ? आज जगह-जगह से श्रावको के पतन के समाचार मिलते हैं।

मेरा आशय यह नही है कि अन्य लोगो की अपेक्षा श्रावकों के जीवन का स्तर नीचा है। नही, भगवान् की कृपा से और सद्‌गुरुओं के संसर्ग से आज भी आप लोगो में अनेक विशेषताए विद्यमान हैं, परन्तु आपका थोडा-सा भी दोष बहुत बडा मालूम होता है, क्योकि आपसे बहुत अधिक उच्च जीवन की आशा की जाती है। आप श्रमण भगवान् महावीर के अनुयायी हैं। आपका जीवन व्यवहार इतना उच्चकोटि का होना चाहिये कि दूसरे लोग आपका अनुकरण करे।

सदाचारी पुरुष का आचरण ही दूसरो को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। विनोबाजी की जनसेवा ने और सात्विक आचरण ने लोगो को अपनी ओर खीच लिया है। आज बडे-बडे लोग उनके पास आते हैं और उनसे महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान मागते हैं।

शास्त्रकारों ने मार्गानुसारी के जो पैंतीस मुद्दे (बोल) बतलाये हैं, उनका आशय यही है कि मनुष्य को पूर्ण सदाचारी बनना चाहिये। सदाचारी बनने के बाद ही व्रती बनने की योग्यता प्रकट होती है। जो बारहव्रतधारी बनने का दावा करते हैं, मैं उनसे कहूगा कि प्रथम सदाचारी बनो। सदाचारी बने बिना देशव्रती नही बन सकते।

माना कि शरीर पर पहरने के लिये गृहस्थ को पूरी पोशाक चाहिए, मगर सबसे पहले धोती का होना आवश्यक है। सिर पर रेशमी पगड़ी हो मगर कमर में धोती न हो–नगा हो तो क्या वह पगड़ी शोभा देगी ? अगरखा हो या न हो, लगोटी तो लज्जा-निवारणार्थ सर्व प्रथम चाहिए ही।

सदाचार लंगोटी है और व्रत-प्रत्याख्यान भूषण हैं। भूषणो से पहले लंगोटी आवश्यक है। वह न हुई तो कीमती आभूषण उपहास के कारण बनेंगे।

सदाचार का आवश्यक अंग प्रामाणिकता है। व्यापार में तथा अन्य जीवनव्यवहार मे आपको पूरी-पूरी प्रामाणिकता रखनी चाहिए।

हा, तो सदाचार और अहिंसा-प्रचार के लिए पजाब में मैंने सोसाइटी बनाई। इस सोसाइटी ने बड़े-बड़े पापजीवी लोगो को अपनाया और हजारो मनुष्यो को सदाचारी बनाया।

अगर आपने देश और समाज को ऐसे संस्कारों वाली सन्तान अर्पित की है तो कहा जायेगा कि आप सन्तानऋण से उऋण हुये हैं और आपने माता-पिता का उत्तरदायित्व निभाया है।

कीड़ों और मकोड़ों के समान संतान को पैदा किये जाना माता-पिता का कर्त्तव्य नही है। सन्तान को जन्म देने के साथ-साथ आप पर उसके जीवन-निर्माण का भी महान् उत्तरदायित्व आ जाता है।

मयूर अपने पखो को और कलगी को देखता है तो उसे प्रसन्नता का अनुभव होता है, परन्तु जब पैरों की तरफ दृष्टि डालता है तो उसे रोना आता है। भगवान् का मार्ग अत्युत्तम है, यह देख कर प्रसन्नता और आह्लाद की सीमा नही रहती, परन्तु उनके अनुयायिओं का अवनत चरित्र देकर दु.ख होता है।

पूर्वकाल के श्रावक कितने विश्वासपात्र होते थे ? उनकी प्रामाणिकता का सिक्का सर्वमान्य होता था। किसी भी क्षेत्र में उन पर शंका नही की जाती थी। क्या न्यायालयो मे और क्या राजा के अन्तःपुर में, क्या दुकान पर और क्या मकान पर, सर्वत्र वे पूर्ण विश्वासभाजन माने जाते थे। परन्तु आज भी क्या वही स्थिति है ? आज जगह-जगह से श्रावको के पतन के समाचार मिलते हैं।

मेरा आशय यह नही है कि अन्य लोगों की अपेक्षा श्रावको के जीवन का स्तर नीचा है। नही, भगवान् की कृपा से और सद्गुरुओं के संसर्ग से आज भी आप लोगो मे अनेक विशेषताएं विद्यमान हैं, परन्तु आपका थोड़ा-सा भी दोष बहुत बडा मालूम होता है, क्योकि आपसे बहुत अधिक उच्च जीवन की आशा की जाती है। आप श्रमण भगवान् महावीर के अनुयायी हैं। आपका जीवन व्यवहार इतना उच्चकोटि का होना चाहिये कि दूसरे लोग आपका अनुकरण करे।

सदाचारी पुरुष का आचरण ही दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। विनोबाजी की जनसेवा ने और सात्विक आचरण ने लोगो को अपनी ओर खींच लिया है। आज बड़े-बड़े लोग उनके पास आते हैं और उनसे महत्त्वपूर्ण समस्याओ का समाधान मांगते हैं।

शास्त्रकारों ने मार्गानुसारी के जो पैतीस मुद्दे (बोल) बतलाये हैं, उनका आशय यही है कि मनुष्य को पूर्ण सदाचारी बनना चाहिये। सदाचारी बनने के बाद ही व्रती बनने की योग्यता प्रकट होती है। जो बारहव्रतधारी बनने का दावा करते हैं, मैं उनसे कहूंगा कि प्रथम सदाचारी बनो। सदाचारी बने बिना देशव्रती नही बन सकते।

माना कि शरीर पर पहनने के लिये गृहस्थ को पूरी पोशाक चाहिए, मगर सबसे पहले धोती का होना आवश्यक है। सिर पर रेशमी पगड़ी हो मगर कमर में धोती न हो–नगा हो तो क्या वह पगडी शोभा देगी ? अगरखा हो या न हो, लगोटी तो लज्जा-निवारणार्थ सर्व प्रथम चाहिए ही।

सदाचार लंगोटी है और व्रत-प्रत्याख्यान भूषण हैं। भूषणों से पहले लंगोटी आवश्यक है। वह न हुई तो कीमती आभूषण उपहास के कारण बनेंगे।

सदाचार का आवश्यक अंग प्रामाणिकता है। व्यापार मे तथा अन्य जीवनव्यवहार मे आपको पूरी-पूरी प्रामाणिकता रखनी चाहिए।

हां, तो सदाचार और अहिंसा-प्रचार के लिए पजाब में मैंने सोसाइटी बनाई। इस सोसाइटी ने बड़े-बड़े पापजीवी लोगों को अपनाया और हजारो मनुष्यो को सदाचारी बनाया।

सिक्खों में दो दल हैं—निर्मले और अकाली। निर्मले सिक्ख प्राय: मांस-मदिरा का सेवन नही करते, पर अकालियों के लिए यह बात नही है। पंजाब में जिला गुजरांवाले के सरदार हाकिमसिंह बड़े मांसभक्षी थे। एक बार उनकी पुत्रवधू ने मांस पकाने से इन्कार कर दिया तो उन्होने अपने लड़के को हुकम दिया—बहू को जहां से लाये हो, वहीं छोड़ आओ, क्योकि वह मांस पकाने से इन्कार करती है।

ऐसे पक्के मांस भोजी को भी सोसाइटी ने अमांसाहारी बना दिया और वह उस सोसाइटी के प्रेसीडेंट बन गये। जिन लोगों के घर में बहुत अधिक मांस पकता था, उनमें से कई-एक वेजीटेरियन बन गये। दीन-दुःखी लोगों के लिए इस सोसाइटी ने लाखों रुपये खर्च किये हैं।

मैंने तो सिर्फ धर्म का मार्ग बतलाया था। आर्थिक प्रपंचों से मेरा कोई सरोकार नही था, अर्थात् हिसाब-किताब रखना और खर्च करना सब गृहस्थ कार्यकर्त्ताओं का काम है। पश्चिमी पाकिस्तान वाले हिस्से में सोसाइटी के लोग ज्यादा थे। बिना पिछले शुभ संस्कारो के दुर्व्यसनों का त्याग नही किया जाता। कितने मनुष्य ऐसे होते हैं जो पाप कार्यों को बुरा समझते हुए भी नही छोड़ पाते।

रावलपिंडी मे एक क्षत्रिय परिवार से सम्बन्ध रखने वाले आत्मारामजी नामक सज्जन थे। वह प्राय. प्रतिदिन व्याख्यान सुनने आया करते थे। दुखियो की बाते सुन कर उनकी आखो मे आसू आ जाया करते थे। बहुत समझाने पर भी वह मांस का त्याग न कर सके। यो वह मासभक्षण को निन्दनीय समझते थे और खेद भी अनुभव करते थे मगर पापकर्म के उदय से माँस नही छोड़ पाते थे। कर्म का उदय बड़ा बलवान् है।

जालन्धर शहर के मेरे चातुर्मास में एक लड़के ने कहा—मेरा मित्र मुझे कसाईखाने में ले गया, यह सोच कर कि क्रूरतापूर्वक कत्ल किये जाते जानवरों को देखकर शायद मेरा दिल बदल जाय और मैं मांस खाना छोड़ दूं। परन्तु माँस मुझसे न छूटा। किन्तु महाराज, आज आपका उपदेश सुनकर मैं मांस का खाना सदैव के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर छोड़ता हूं।'

सज्जनो! जीवन चित्र बड़ा विचित्र है। इस को सुधरते और बिगड़ते देर नही लगती।

आपने सुना होगा कि जब एकचिन्त नाम के मुनि ने ब्रह्मदत्त नाम के चक्रवर्ती से भोगों को त्याग देने के लिए कहा, तब उसने उत्तर दिया—आप जो कहते हैं सो मैं भी जानता हूं। भोगों के परिणाम की कटुता को समझता हूं। जानता हूं—

जहां किंपाकफलाणं, परिणामो न सुन्दरो।
तहा भुताण भोगाण, परिणामो न सुन्दरो॥

जैसे किंपाक नामक विषैले फल खाने में स्वादिष्ट एवं देखने में सुन्दर होते हैं, मगर उनका परिणमन सुन्दर नही होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम अच्छा नही होता। किन्तु क्या करूं महाराज—

अह पि जाणामि जहेह साहू।
ज मे तुम साहसि वक्कमेय।
भोगा इमे संगकरा हवन्ति,
जे पुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं॥

अर्थात्—साधो! तुम जो कहते हो सो मुझे भी मालूम है। यह भोग कर्मबंध के कारण हैं। मगर हमारे जैसे कर्मविवश प्राणी भोगभावना को जीत नही सकते। चिन्त मुनि ब्रह्मदत्त के पिछले

सिक्खों में दो दल हैं—निर्मले और अकाली। निर्मले सिक्ख प्राय. मांस-मदिरा का सेवन नही करते, पर अकालियों के लिए यह बात नही है। पंजाब में जिला गुजरांवाले के सरदार हाकिमसिंह बड़े मासभक्षी थे। एक वार उनकी पुत्रवधू ने मांस पकाने से इन्कार कर दिया तो उन्होने अपने लड़के को हुकम दिया—वहू को जहां से लाये हो, वही छोड़ आओ, क्योंकि वह मांस पकाने से इन्कार करती है।

ऐसे पक्के मास भोजी को भी सोसाइटी ने अमांसाहारी वना दिया और वह उस सोसाइटी के प्रेसीडेंट वन गये। जिन लोगों के घर मे वहुत अधिक मांस पकता था, उनमें से कई-एक वेजीटेरियन वन गये। दीन-दुखी लोगों के लिए इस सोसाइटी ने लाखों रुपये खर्च किये हैं।

मैंने तो सिर्फ धर्म का मार्ग वतलाया था। आर्थिक प्रपंचों से मेरा कोई सरोकार नही था, अर्थात् हिसाव-किताव रखना और खर्च करना सव गृहस्थ कार्यकर्त्ताओं का काम है। पश्चिमी पाकिस्तान वाले हिस्से में सोसाइटी के लोग ज्यादा थे। विना पिछले शुभ संस्कारों के दुर्व्यसनो का त्याग नही किया जाता। कितने मनुष्य ऐसे होते हैं जो पाप कार्यो को वुरा समझते हुए भी नही छोड पाते।

रावलपिंडी में एक क्षत्रिय परिवार से सम्वन्ध रखने वाले आत्मारामजी नामक सज्जन थे। वह प्राय. प्रतिदिन व्याख्यान सुनने आया करते थे। दुखियो की वातें सुन कर उनकी आखो में आसू आ जाया करते थे। वहुत समझाने पर भी वह मास का त्याग न कर सके। यों वह मासभक्षण को निन्दनीय समझते थे और खेद भी अनुभव करते थे मगर पापकर्म के उदय से माँस नही छोड़ पाते थे। कर्म का उदय वड़ा बलवान् है।

जालन्धर शहर के मेरे चातुर्मास में एक लड़के ने कहा—मेरा मित्र मुझे कसाईखाने में ले गया, यह सोच कर कि क्रूरतापूर्वक कत्ल किये जाते जानवरो को देखकर शायद मेरा दिल बदल जाय और मैं मास खाना छोड़ दू। परन्तु माँस मुझसे न छूटा। किन्तु महाराज, आज आपका उपदेश सुनकर मैं मास का खाना सदैव के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर छोड़ता हूं।'

सज्जनो ! जीवन चित्र बड़ा विचित्र है। इस को सुधरते और बिगड़ते देर नही लगती।

आपने सुना होगा कि जब एकचिन्त नाम के मुनि ने ब्रह्मदत्त नाम के चक्रवर्ती से भोगों को त्याग देने के लिए कहा, तब उसने उत्तर दिया—आप जो कहते हैं सो मैं भी जानता हूं। भोगो के परिणाम की कटुता को समझता हूं। जानता हूं—

जहां किंपाकफलाणं, परिणामो न सुन्दरो।
तहा भुताण भोगाण, परिणामो न सुन्दरो॥

जैसे किंपाक नामक विषैले फल खाने में स्वादिष्ट एव देखने में सुन्दर होते हैं, मगर उनका परिणमन सुन्दर नही होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम अच्छा नही होता। किन्तु क्या करूं महाराज—

अह पि जाणामि जहेह साहू।
ज मे तुम साहसि वक्कमेय।
भोगा इमे सगकरा हवन्ति,
जे पुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं॥

अर्थात्—साधो ! तुम जो कहते हो सो मुझे भी मालूम है। यह भोग कर्मबध के कारण हैं। मगर हमारे जैसे कर्मविवश प्राणी भोगभावना को जीत नही सकते। चिन्त मुनि ब्रह्मदत्त के पिछले

माता ने पुत्र के भोलेपन का विचार करते हुए कहा—बेटा, मरना जीवन का अन्त हो जाना है। जीव वर्तमान शरीर को त्याग कर परभव में चला जाता है, यही मरना कहलाता है। मरना जीव के लिए सबसे बड़ा भय है, मृत्यु जैसी व्यथा और कोई नही है।

थावच्चापुत्र—तो क्या मुझे भी मरना पड़ेगा ?

माता—अमंगलवाणी मत बोलो लाल, मगर मरना प्रत्येक के लिए अनिवार्य है।

थावच्चापुत्र—तो किसी पहाड़ में चला जाऊं ?

माता—बेटा, काल सर्वत्र अप्रतिहतगति है। वह कही भी नही छोड़ता। कहा है—

अम्बर में पाताल लोक में या समुद्र गहरे में,
इन्द्रभवन में शैलगुफा में सेना के पहरे में।
वज्रविनिर्मित गढ़ में या अन्यत्र कही छिप जाना,
पर भाई ! यम के फंदे मे अन्त पड़ेगा जाना ॥

चाहे आकाश में चले जाओ, चाहे पाताललोक में छिप जाओ, समुद्र मे डुबक जाओ या देवराज इन्द्र के भवन की शरण लो, पर्वत की अंधेरी गुफा में छिपो या चतुरंगी सेना के पहरे मे रहो, वज्र से बने मजबूत किले में घुस कर बचने का प्रयत्न करो या किसी दूसरी जगह जान बचाने के लिए प्रयत्न करो, मगर भैया जी, आपका कोई प्रयत्न काम आने वाला नही। यमराज के हाथ बहुत लम्बे और शक्तिशाली हैं। उनसे कोई बच नही सकता। आज तक कोई बचा नही तो अब क्या बचेगा ? असंख्य चक्रवर्ती और वासुदेव इस धराधाम पर आये, पर आज उनके नाम भी हम नही जानते।

थावच्चापुत्र ने आज जीवन और मरण को पहचाना। उसकी आन्तरिक आंखे खुल गईं। उसने मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के

प्रयत्न में अपना जीवन लगा दिया। दीक्षा लेकर अपना कल्याण किया।

हाँ, तो चिन्त से ब्रह्मदत्त कहता है—मैं अपने किये हुये निदान का फल भोग रहा हू। अतएव संयम और तपश्चर्या के कल्याणकारी मार्ग पर चलने में असमर्थ हूं। लाचार हू। तब चिन्त जी ने निराशा के स्वर में कहा—

मारा वाल्या थे नहीं वल्या, थारा कर्म सहाई हो,
अब के मिलिवो दोहिलो, जिन पर्वत राई हा।
बाधव ! बोल मानो हो ॥

यह पुराना राग है। इसमें चिन्त जी की हार्दिक व्यथा व्यक्त की गई है। वह निराश स्वर में कहते हैं—हे बन्धु, अब तुम्हारा मेरा मिलाप होना मुश्किल है। पांच पिछले भवो में हम साथ-साथ रहे, परन्तु अब मार्ग बदल गये। तुम्हारा मार्ग जुदा है, मेरा मार्ग जुदा है। राजन् ! मैं अब जाता हूं।

चिन्त जी सयम पाल कर मुक्ति को प्राप्त हुये। ब्रह्मदत्त को नरक का अतिथि बनना पड़ा। दोनो के भविष्य में कितना अन्तर पड़ गया !

सज्जनो ! पूर्ण संयम की साधना तो जरा दूर की बात है, आप देशविरति को ठीक तरह निभा ले तो भी अच्छा है। साधु बनकर भी जो अपनी प्रतिज्ञा का प्रामाणिकता के साथ पालन नही करते, वे उलटे पाप के भागी बनते हैं। 'सव्व सावज्ज जोग पच्चक्खामि' की महान् प्रतिज्ञा लेकर भी जो फल-फूलो से पूजा करने का उपदेश देते हैं और जिनके भोजन के लिये साथ मे रसोड़े चलते हैं, उनके लिये क्या कहा जाय !

सज्जनो ! एकेन्द्रिय जीवो में भी प्राण हैं। उन्हे भी सुख-दुःख का अनुभव होता है। उनकी रक्षा की ओर भी ध्यान देना चाहिये।

बड़े और सामर्थ्यवान् तो आप ही अपनी रक्षा कर लेते हैं। उनमें शक्ति है। परन्तु जिनको वचन शक्ति भी प्राप्त नहीं है और जो दुःख का प्रतिकार करने में सर्वथा असमर्थ है, जो अपने बचाव के लिये इधर से उधर भी नहीं हो सकते, उनकी रक्षा तो आपकी सद्भावना पर ही निर्भर है। अतः उन्हें अपना छोटा भाई समझना चाहिए।

साधु का जीवन इतना निस्पृह और कल्याणमय होता है कि उसे अपने लिये किसी प्राणी की हिंसा की आवश्यकता ही नही होती।

अभिप्राय यह है कि साधु या श्रावक ने अपनी मर्यादा के अनुसार जो प्रतिज्ञा अगीकार की है, उसे पूरी तरह निभाना चाहिए और आत्म साधना के पथ पर अग्रसर होना चाहिए। जो इस पथ पर अग्रसर होते हैं, वे संसार-सागर से पार हो जाते हैं।

राजकोट
६-८-५४

: ६ :

जल जीव

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित सज्जनो और धर्मबहिनो !

कल आत्मा के विषय में कहा था और उसके उत्थान के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डाला गया था। आज भी इसी विषय पर कुछ विचार प्रदर्शित करने की भावना है।

आत्मा अपने मूल स्वरूप में पूर्ण निर्विकार, परमानन्दमय निराकार और निरंजन है। एक पूर्वाचार्य के शब्दों में कहा जा सकता है—

अनन्तसुखसम्पन्नं, ज्ञानामृतपयोधरम्।
अनन्तवीर्यसम्पन्नं, दर्शनं परमात्मनः॥
निर्विकार निराधार, सर्वसंघविवर्जितम्।
परमानन्दसम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम्॥

आत्मा अनत सुखमय है। वास्तव में सुख आत्मा का ही गुण है। वह सुख आत्मिक गुण होने से परावलम्बी या विषयाश्रित नही है। वह आत्मा की निजी सम्पत्ति है। आत्मिक सुख की मात्रा अनत है—परिमाण से भी अनत और काल से भी अनंत। और जो अनंत है वह वचनगोचर नही हो सकता। शास्त्रकार कहते हैं कि स्वर्गो के देवों को जो सुख प्राप्त होता है वह संसार का सर्वोत्तम सुख है। परन्तु आत्मिक सुख उससे भी अनंत गुण अधिक है। कदाचित तीन कालों के समग्र दिव्य सुख का पिण्ड बन सकता होता और उसे अतिम सुख के साथ तोलते तो आत्मिक सुख की तुलना मे वह नगण्य ठहरता।

सुख के साथ आत्मा का ज्ञानगुण भी अनन्त है। जैसे मेघों से जल को वर्षा होती है, उसी प्रकार आत्मारूपी अक्षय मेघ से ज्ञानामृत की वर्षा होती है। वह मेघ तो कभी कभी वरसते हैं और परिमित ही पानी बरसाते हैं। मगर आत्मा रूपी मेघ निरन्तर ज्ञान की वर्षा करता है, फिर भी उसका भंडार कभी खाली नहीं होता।

यहाँ ज्ञान को अमृत कहा है अमृत का मुख्य काम जहर को नष्ट करना है और कहा जाता है कि उसके सेवन से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। मगर आज तक कभी सुना नही कि अमृत का सेवन करके कोई अमर हो गया है। परन्तु ज्ञानामृत का पान करके अनंत जीवों ने अमरत्व प्राप्त किया है, यह आप और हम सभी जानते हैं।

इस ज्ञानामृत में विष विकार का निवारण करने की अपूर्व क्षमता है। वास्तविक विष कषाय हैं क्रोध, मान, कपट, लोभ को कषाय कहते हैं। जो ससारी जीवों को वेईमान बनाते हैं और बार-बार मारते हैं। उनको कष्ट करने का सामर्थ्य ज्ञानामृत में ही है। आत्मा इस ज्ञानामृत का अक्षय स्रोत है।

आत्मा का तीसरा गुण अनन्तवीर्य है। वीर्य उस शक्ति को कहते हैं जिसके आधार पर कोई वस्तु टिकी रहती है और अपना कार्य करती है। आत्मा में ऐसी शक्ति अनन्त है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण भी वीर्य की सहायता से अपना-अपना कार्य करते हैं।

आत्मा कर्म के वशीभूत होकर अनन्त बार नरक और निगोद जैसी अधोगतियों में गया, परन्तु आत्मिक वीर्य के कारण उसकी सत्ता अक्षुण्ण बनी रही और वह पुनः उन गतियों में से निकलने में समर्थ हो सका।

आत्मा का दर्शन गुण भी ज्ञान की भांति ही अनन्त है। ज्ञान और दर्शन की जोड़ी है। जहा ज्ञान है वहां दर्शन है और जहां दर्शन है वहां ज्ञान है। यथाथ में देखा जाय तो दोनों आत्मा के चैतन्य नामक एक ही गुण के दो चित्र है। फिर भी विषय भेद के कारण उनमे भेद की कल्पना की गई है। वस्तु का विशेष अश ज्ञान का और सामान्य अश दर्शन का विषय होता है।

आत्मा में स्वभावतः कोई विकार नही है। प्रत्येक आत्मा सिद्धों मोक्षात्माओं—के समान विकार विहीन, स्वाश्रयी और समस्त पर-पदार्थों के संग से वर्जित है।

देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, नारक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि होना आत्मा का लक्षण नही है। आत्मा का एक ही लक्षण है—शुद्ध चैतन्य।

इस प्रकार के लक्षण से सम्पन्न आत्मा को चर्मचक्षुओं से देखना संभव नही है। ध्यान और समाधि के द्वारा ही उसके दर्शन होते हैं। यही कारण है कि—

ध्यानहीना न पश्यन्ति निजदेहे व्यवस्थितम्।

यद्यपि आत्मा कही दूर नहीं है और उसको देखने के लिए किसी

तीर्थस्थान में, वन में या अन्यत्र कहीं नहीं जाना है, वह इसी देह में अपनी समस्त कलाओं के साथ स्थित है, किन्तु उसे ध्यानहीन जन नही देख पाते। आत्मा का स्वरूप ध्यानगम्य है और ध्यान के लिए राग, द्वेष और मोह के विकारों को दूर करके चित्त को विशुद्ध बनाने की आवश्यकता है। चित्त की विशुद्धता के लिए वैराग्य और अभ्यास की आवश्यकता है। अपनी वृत्तियों को जागरूक रहकर सभाले रहने से शनै. शनै चित्त निर्विकार हो सकता है और तब ध्यान की योग्यता आती है। उसी स्थिति में आत्मा का साक्षात्कार होता है।

जो लोग इसी प्रकार तैयारी नही करते, पात्रता प्राप्त नहीं करते उन्हे आत्मसाक्षात्कार नही होता। मगर वे अपनी कमजोरियो को तो देखते नही, उल्टा आत्मा का ही अपलाप करने लगते हैं।

जिसकी दोनो आंखों पर मोतियाबिन्दु पूरी तरह छा गया है, उसे स्थूल पदार्थ भी दिखाई नहीं देते। पर उसे दिखाई न देने से उनका अभाव नहीं होता। अगर वह कहता है कि सारा जगत् तमोमय है और किसी पदार्थ को सत्ता नहीं हैं तो वह उसकी धृष्टता ही समझी जायगी। उसे चाहिए कि वह पहले देखने की योग्यता प्राप्त करे, आपरेशन करवा ले इसी प्रकार साधना विहीन लोगों के कहने से आत्मा का अभाव नहीं हो सकता।

इस कथन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि साधारण जनों को आत्मा की प्रतीति ही नही होती। उपर्युक्त साधना आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए आवश्यक है, परन्तु उसकी सत्ता का आभास तो हमे और आपको पद-पद पर मिल रहा है। हमारा देखना, सुनना, अनुभव करना, चलना, फिरना, बोलना आदि आत्मा के अस्तित्व का दृढ प्रमाण है। द्वीन्द्रिय जीवों तक की क्रियाएं स्पष्ट रूप से आत्मा के

अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। हाँ, एकेन्द्रिय जीवों का अस्तित्व अवश्य ही विश्वास पर अवलम्बित है, आगमगम्य है।

इन्द्रियों का सम्बन्ध आत्मा से है। यद्यपि बाह्य इन्द्रिया स्वयं पुद्गलमय हैं पर इनका सबध चेतन से है। शरीर भी पुद्गल है और इन्द्रियां भी पुद्गल हैं, परन्तु इनको धारण करने वाला जीव है। एकेन्द्रिय जीवों में भी इन्द्रिय, योग, उपयोग, कषाय, लेश्या, सज्ञा और कर्म आदि की सत्ता है। अतएव उनके जीव होने में शंका के लिए अवकाश नही है।

फिर भी जो लोग सिद्धान्त-शास्त्र से अनभिज्ञ हैं, वे पृथ्वी, पानी आदि में जीव होने के विषय मे शंका करते हैं। परन्तु एकेन्द्रिय जीवों में से वनस्पतिकाय मे तो विज्ञान ने जीव सिद्ध कर दिया है। पृथ्वीकाय की सजीवता के लिए मैं प्रमाण दे चुका हू। अब यह देखना है कि क्या जल में जीव है ?

जल में जीव हैं, इस कथन के दो अर्थ निकल सकते हैं। प्रथम यह कि जल को आधार बनाकर जीव रहते हैं, जैसे कच्छ, मच्छ, केंकडा आदि। परन्तु इस प्रकार के जलचर जीवों के अस्तित्व की बात यहाँ नही है। यह जीव तो सिद्ध ही हैं अर्थात् इन जीवों को जीव रूप से सभी पहचानते हैं। किन्तु जब हम जलकाय शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा अभिप्राय ऐसे जीवों से होता है जो जल को ही काय (शरीर) बना कर रहते हैं। जल ही जिन जीवो का शरीर है, वे अप्काय कहलाते हैं। अप्काय के जीवों में और जलचर जीवो में बहुत अन्तर है। जलचर मत्स्य, कच्छप आदि पंचेन्द्रिय हैं, जब कि अप्काय के जीव एकेन्द्रिय हैं। जलचर जीव संख्यात हैं। परन्तु जलकाय के जीव असख्यात हैं। जलचर जीवों का शरीर जल से भिन्न है और भिन्न ही दिखलाई देता है, परन्तु जलकाय के जीवों का

शरीर जल से भिन्न नहीं हैं और इस कारण वह भिन्न दिखलाई नहीं देता।

जलकाय के जीवों की गणना स्थावरकाय में की गई है। श्रीमद् भगवतीसूत्र मे ये प्रश्न किया गया है कि पानी का गर्भ कितने समय का है ?

बादल पानी को धारण करते हैं। पानी सम्मूर्छिम जीव है। पांच स्थावरों से लेकर असज्ञी पंचेन्द्रिय तक सम्मूर्छिम जीव हैं। इनकी उत्पत्ति योग्य पुदगलों के संयोग से है अगर यह माना जाय कि जीवसृष्टि मैथुनपूर्वक ही होती है, तब तो देव और नारकी भा अजीव हो जाएगे, क्योंकि इनका जन्म भी मैथुनपूर्वक नही होता।

जन्म के लिए योनि का होना आवश्यक है और ऐसा कोई नियम नही है कि योनि सचित्त ही हो। पन्नवणासूत्र में तीन प्रकार की योनियो का उल्लेख है—सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त। इसका अर्थ यह है कि जहां जीव जन्म ग्रहण करते हैं, वह स्थान तीनो प्रकार के होते हैं। अचित्त योनि के पुद्गल एकान्तत. निर्जीव हैं, पर उनकी सहायता लेकर जीव उत्पन्न हो सकता है। कुछ सजीव और कुछ निर्जीव पुदगल मिश्रयोनि रूप होते हैं और वे भो जीव की उत्पत्ति के आधार बनते हैं। सचित्त पुद्गल तो जीवोत्पत्ति के कारण होते हैं।

षट् द्रव्यों में केवल जीव ही सचित्त है, शेष पाँच द्रव्य अचित्त हैं। इन अचित्त द्रव्यों में एक पुदगल हो रूपा—मूर्तिमान है और शेष अरूपी—अमूर्त्तिमान हैं। यद्यपि पुद्गल कई प्रकार के होते हैं परन्तु सब निर्जीव—अचेतन ही हैं, सुख-दुःख के सवेदन से शून्य हैं। जोनी में उत्पन्न होने वाला आत्मा सजीव है।

हां, तो योनि निर्जीव भी हो सकती है। उत्पत्ति के लिये सजीव स्थान आवश्यक नही, योनि होना आवश्यक है। असंख्य नारकों और देवो की योनि के पुद्गल अचित्त होते हैं। अचित्त होने पर भी उनमें ऐसी शक्ति है कि वे जीव की उत्पत्ति मे कारण (आधार) बनते हैं।

पानी मे पानी, अग्नि में अग्नि और पेड़ मे पेड़ पैदा होना सचित्त योनि का उदाहरण है।

शास्त्र मे प्रश्न किया गया है कि गेहूँ, चना आदि की योनि कितने काल तक सचित्त रहती है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि गेहूँ आदि तीन वर्ष बाद योनि से अयोनि हो जाते हैं। यह काल उत्कृष्ट है। तात्पर्य यह है कि गेहूँ आदि मे अकुर को उत्पन्न करने की जो शक्ति है वह तीन वष बाद नष्ट हो जाती है।

दवा का असर एक सीमित समय तक ही रहता है। वैद्यो और डाक्टरो का निर्णय है कि अमुक समय बाद अमुक दवा की शक्ति नष्ट हो जाती है। अग्रेजी दवाओ पर तो वह अकित भी कर दिया जाता है। नियत समय में अगर उस दवा का उपयोग न कर लिया जाय तो वह वेकार हो जाती है और नष्ट कर दी जाती है। उसी प्रकार गेहूँ आदि की उत्पादनशक्ति भी उक्त समय के पश्चात् नष्ट हो जाती है।

सज्ञी मनुष्य और तिर्यंच की मिश्रयोनि है, ऐसा ज्ञानियो ने प्रतिपादन किया है। इस प्रकार नाना तरह को योनिया हैं। किस जीव की कैसी योनि है, इसका स्थूल विवरण इस प्रकार है :—

देवता और नारकी—अचित्त योनि

सज्ञी मनुष्य और
,, तिर्यंच—] मिश्रयोनि

पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, असज्ञी मनुष्य और तिर्यंच—	तीनों प्रकार की योनियाँ
संज्ञी मनुष्य, संज्ञी तिर्यंच और देवता	शीतोष्ण योनि
चार स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, असंज्ञी मनुष्य–तिर्यंच	शीत, उष्ण और मिश्र तीनों योनियां
तेजस्काय—	उष्ण योनि
प्रथम, द्वितीय, तृतीय नरक के नारक—	शीत योनि
चौथे और पाचवे ,, ,,	शीत भी उष्ण भी
षष्ठ और सप्तम ,, ,,	उष्ण योनि
नारक. देव, एकेन्द्रिय—	सकृतयोनि
गर्भज मनुष्य-तिर्यंच	मिश्रयोनि
शेष जीवो की—	विवृतयोनि

उत्पत्तिस्थान को योनि कहते हैं। अर्थात् जिस स्थान में जीव अपने कार्मणशरीर को, औदारिक आदि स्थूल शरीर को बनाने के लिये ग्रहण किये हुये पुद्‌गलो के साथ मिलाता है, वह स्थान योनि कहलाता हैं। जैसा कि ऊपर दिखलाया गया हैं, विभिन्न प्रकार के जीवो की योनिया भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। इन योनियों में जीव का जन्म होता है। जन्म तीन प्रकार का है—गर्भ उपपात, और सम्मूर्छिम। देवों नारकों की उत्पत्ति उपपात जन्म से होती है। जरायुज, अण्डज और पोतज जीव गर्भजन्म से उत्पन्न होते हैं और बाकी के सब जीवो की उत्पत्ति सम्मूर्छिम जन्म से होती है।

कबूतर, मुर्गी आदि जो जीव अण्डे से उत्पन्न होते हैं वे अण्डज कहलाते हैं। चमडे की एक पतली-सी झिल्ली जरायु कहलाती है और उसमें लिपटे हुए पैदा होने वाले जीव जरायुज कहलाते हैं।

उत्पन्न होते ही जो जीव तत्काल चलने-फिरने लगते हैं वे पोतज कहलाते हैं, जैसे हिरण आदि।

उत्पत्ति स्थान में रहे हुये पुरुष को शुक्त और स्त्री के शोणित के पुद्गलों को शरीर के लिये ग्रहण करना गर्भजन्म है।

देवों की उपपात शय्या और नारकों की उपपातकुम्भी है। उत्पत्ति स्थान में पहुचने पर अन्तर्मुहूर्त्त मे ही युवावस्था को धारण करने योग्य पुद्गलो को ग्रहण करना उपपात जन्म है। यह जन्म देवों और नारकों का ही होता है।

माता-पिता के संयोग के बिना ही उत्पत्ति स्थान में स्थित औदारिक जाति के पुदगलों को शरीर रूप में परिणत करने के लिये ग्रहण करना सम्मूर्छिम जन्म कहलाता है।

सम्मूर्छिम जीव अनेक प्रकार के पुदगलों के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। कोई सस्वेदज होते हैं जो पसीने से उत्पन्न होते हैं, जैसे—जु वा आदि। कोई-कोई विभिन्न प्रकार के रसो मे उत्पन्न होते हैं, जिन्हे रसज कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि जीव सृष्टि अनेक प्रकार की है और उसकी उत्पत्ति के कारण तथा स्थान भी अनेक प्रकार के हैं। नारकसृष्टि और देवसृष्टि तो ऐसी है जो हमें दृष्टिगोचर ही नही होती। परन्तु वहा भी असख्य-असख्य जीव उत्पन्न होते और रहते हैं।

नरक सात हैं और वहां या तो शीत पुद्गलों की प्रचुरता है या उष्णपुद्गलों की। जो शीत हैं वे अतिशीत हैं और जो उष्ण हैं वे अतिउष्ण हैं। दोनों ही प्रकार के पुद्गल दुस्सह वेदना के जनक हैं। जीवाभिगमसूत्र में नरक की गर्मी का आभास देते हुए कहा गया है कि कोई बत्तीस वर्ष का युवा पुरुष लोहे को खूब कूट-कूट कर घन बना दे और उसे संडासी से पकड़ कर नारक जीव के मुख में डाले

और उसे पुनः लेना चाहे तो नहीं ले सकता। उसकी अत्युग्र गर्मी के कारण वह गोला शीघ्र ही पिघल जाता है। जिस लोहे को पिघलने में यहां घण्टों लगते हैं, वह नारक के मुख में क्षण भर में पिघल जाता है।

आज तो सेठ साहब गर्मी के कारण व्याख्यान भी नहीं सुनते। मगर वे भूल गये हैं कि अनन्त बार नरक की वह गर्मी भोग कर आये हैं।

नरक की उष्णता असीम है। उसकी ठीक-ठीक कल्पना करना भी हमारे लिये कठिन है। फिर भी उसे समझाने के लिये एक दृष्टान्त दिया गया है। कल्पना कीजिए गर्मी का मौसम है। मध्यान्ह का सूर्य तप रहा है। रेतीला मैदान है। ऐसे समय एक पथिक मार्ग भूल गया है। वह प्यास से पीड़ित है। गला सूख रहा है और उसे जीवन की आशा नहीं रही है। भाग्य से वह किसी बगीचे में पहुंच जाता है। वहां शीत जल का झरना बह रहा है, हरे-भरे वृक्ष हैं, शीतल और मधुर जल से परिपूर्ण बावडी है। दैवयोग से उसे यह अनुकूलता मिल गई। अब बचने की आशा उत्पन्न हो गई। वह हाथ पैर-मुँह धोता है, फल खाता है, पानी पीता है और विश्राम लेता है। उसे वहा निद्रा आ जाती है और वह थका-मांदा पथिक अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है।

किसी नारक जीव को नरक से निकाल कर यदि मनुष्यलोक की धधकती हुई खैर के अगारो की आग की शय्या पर सुला दिया जाय तो वह उसी प्रकार की शान्ति का अनुभव करेगा जैसी शान्ति उस पथिक को उस उद्यान में अनुभव हुई थी।

तात्पर्य यह है कि नरक की उष्णता के मुकाबिले में खैर के अंगारो की आग भी शीतल प्रतीत होती है। इतनी भयकर उष्णता है नरक में।

मगर शीत योनि वाले शीत में मस्त रहते हैं और उष्ण योनि वाले उष्ण में। पंजाब में भटिण्डा नगर की बात है। वहां एक गाय अंगारे खाती थी। चकोर पक्षी के विषय में तो अंगार भक्षण की उक्ति प्रसिद्ध ही है। इसका कारण उन जीवों की उष्णयोनि का होना ही है।

मछली पानी में ही रहती है और पानी के बिना जीवित नहीं रह सकती। हिमालयवासी शीत मे रहते हैं, उनमें वैसी ही सहन-शीलता आ जाती है।

तात्पर्य यह है कि कर्मोदय से यह जीव अपने स्वरूप को प्राप्त न कर सकने के कारण नाना योनियों में उत्पन्न होता है, अतएव योनि का सबंध जीव के साथ है।

हाँ, तो प्रश्न था कि पानी का गर्भ कितना है? शास्त्र में कहा गया है कि पानी का गर्भ उत्कृष्ट छह मास का होता है। गर्भ का अर्थ है बीच, अन्दर।

अन्तकृद्दशांग सूत्र में बतलाया गया है कि गौतम कुमार अन्धक-वृष्णि का पुत्र था। माता-पिता ने उसके लिये गर्भगृह बनवाया। गर्भगृह का अर्थ है बीच का घर, अर्थात् ऐसा मकान जिसके चारों ओर दूसरे-दूसरे मकान हों।

तो पानी का गर्भ छह मास का है, अर्थात् पानी छह मास तक जमा होता रहता है। पूरे समय तक गर्भ रहे तो वर्षा के रूप में उत्पन्न होता है, अर्थात् बरसता है।

मनुष्य का गर्भ नौ मास और साढ़े सात दिन का माना गया है। यह पुण्यवान् जीव का गर्भ काल है। कम या अधिक होना पाप के उदय का फल है।

कहा जा सकता है कि अधिक समय तक गर्भ में रहना तो पापो-दय हो सकता है, क्योंकि वहा रहने मे कोई सुख नही, वरन् घोर

दुःख है। गर्भ में रहना मानों नरक में रहना है। गर्भस्थान अतीव अशुचिस्थान है और वहां सिकुड कर तथा उलटे लटक कर रहना पडता है। आहार भी अशुचि पदार्थों का करना पड़ता है। अतएव वहां अधिक दिनों तक न रहना ही अच्छा है, परन्तु कम रहना पापोदय कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि उचित समय पर्यन्त रहने से शरीर के अंगोपागों का निर्माण जैसा होना चाहिए था, ठीक पूर्णरूप से वह वैसा ही हो जाता है। अगर गर्भ के उचित समय से कम समय रह जाय तो अगोपांगों का निर्माण यथावत् नही हो पाता। शरीर में दोष रह जाता है। आम पेड़ पर कम टिके तो उसमें पूरा रसकस नही बन पाता। पत्तों में या घास में दबाकर रखने से उसमें वह पूर्णता नही आ सकती। जो पेड़ में लगे रहने पर उसमें आती है, वह कृत्रिमतापूर्वक पकाने से नही उत्पन्न हो सकती। जब कोई फल कच्चा तोड़ लिया जाता है तो वह सिकुड़ जाता है। इसी प्रकार अधिक समय तक लगा रहे तो भी खराब हो जाता है।

मैं आप लोगो को फल पकाने के विषय में कोई आदेश नही दे रहा हू। मैं यह नही कहता कि फल को यो पकाओ और यो न पकाओ। मैं तो एक सैद्धान्तिक विषय को विशद् रूप से समझाने के उद्देश्य से उदाहरणमात्र दे रहा हूं। मेरे कथन का आशय इतना ही है कि उचित समय तक गर्भ में पुष्ट होने वाला बच्चा ताकतवर होता है। गर्भ की निर्बलता या कमी बाहर आने पर पूर्ण नही हो सकती, मूल ही मजबूत होना चाहिए।

मनुष्य का उत्कृष्ट गर्भकाल बारह वर्ष का होता है, अर्थात् कोई-कोई पापी जीव इतने लम्बे समय तक माता के गर्भ मे हो स्थित रहता है।

पानी छह मास तक जब गर्भ में रहता है तो ठीक तरह से बरसता है। ओले या बर्फ गिरना पानी का गर्भपात है। पानी जीव

और पुद्गलों का समूह है। अपकायनामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले जीव पुद्गलों को खीचते हैं और फिर उन्हें शरीर तथा इन्द्रिय आदि के रूप में परिणत करते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि एक महीने में गर्भ में शरीर बन जाता है और तीन मास बाद उसमें जीव आकर प्रवेश करता है। उनके कहने का अर्थ तो यह हुआ कि कारीगर के बिना ही इमारत बन जाती है। ऐसा कभी हुआ नही, होता नही, होगा भी नही। अतएव यह कथन मिथ्या है। क्या कभी आपने देखा है कि कोई भवन पहले बन चुका हो और फिर मिस्त्री तथा कारीगर आये हो? पहले कारीगर भी चाहिये और मेटर-उपादान भी चाहिए। बनाने वाला न होगा तो सामान पड़ा रहेगा, इमारत नही बनेगी। इसी प्रकार बनाने वाला तो हो मगर सामान न हो तो भी इमारत का बनना असम्भव है। किन्तु सामान को इकट्ठा करने के लिए कारीगर का होना प्रथम आवश्यक है।

तो जिस प्रकार इमारत का निर्माण करने के लिऐ कारीगर या कोई भी व्यक्ति पहले ईंट, चूना, लोहा, लकडी आदि उपादानों का सग्रह करता है और उसके पश्चात् ही इमारत बनना प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार गर्भ में जीव पहले पहुंचता है। वह शरीर इन्द्रिय आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और उसके बाद ही शरीर का निर्माण आरम्भ होता है।

छोटा या मोटा, जैसा मकान बनाना होता है, उसी के अनुरूप मैटर इकट्ठा किया जाता है। इसी प्रकार जीव का जैसा शरीर बनना होता है, उसी के अनुरूप वह पुद्गलो को ग्रहण करता है।

माता-पिता तो निमित्त मात्र हैं। वास्तव में शरीर के उपादान कारण तो वह पुद्गल हैं जिनसे शरीर का निर्माण होता है और इन

कारणों का प्रयोगकर्त्ता जीव है। अतएव जीव के बिना शरीर नहीं बन सकता।

भगवतीसूत्र में एक प्रश्न है कि जीव पुद्‌गल को भोगता है या पुद्‌गल जीव को भोगते हैं? इसका उत्तर यह है कि जीव ही पुद्‌गल को भोगता है। भोगने की आवश्यकता जीव को है, पुद्‌गल को नही। जीव को पुद्‌गल न मिले तो 'ठाणेण, मोणेण' हो जाय, अर्थात् जीवन ही न टिक सके।

एक ही उपवासव्रत में मनुष्य ढीले पड़ जाते हैं। कई बाइयां इधर तुम्हारे देश में 'उपवास' को 'अपवास' कहती हैं, मगर ऐसा कहना गलत है 'उपवास' को उपवास ही कहना चाहिए। शुद्ध शब्द मे शक्ति होती है और उसके उच्चारण से अवाछनीय अर्थ नहीं निकल सकता। मगर अशुद्ध शब्द का उच्चारण करने से अर्थ भी पलट जाता हैं। यथा—'अपवास' का अर्थ होता है—बुरा वास, गन्दा-वास; जब कि उपवास का अर्थ है—उप अर्थात् समीप में वास—निवास करना; अर्थात् आत्मा का आत्मभाव में स्थित होना या जिस क्रिया से आत्मा आत्मभाव के निकट लाई जाय, वह क्रिया उपवास है।

अब आप विचार कीजिए कि जरा-सा उच्चारणभेद कर देने से अर्थ मे कितना अन्तर हो जाता है? उपवास से आत्मा परभाव को छोड़ कर निजभाव में आता है।

समय-समय पर उपवास करना भी आवश्यक है, जैसे भोजन शरीर की खुराक है, भोजन से शरीर को बल मिलता है, उसी प्रकार उपवास आत्मा की खुराक है और उससे आत्मा को बल की प्राप्ति होती है। फिर भी इस सत्य का अपलाप नही किया जा सकता कि भोजन के बिना शरीर लम्बे समय तक नही टिक सकता।

टिक सकता होता तो योगी जनों को आहार ग्रहण करने की खटपट ही क्यों करनी पड़ती ?

हां, तो पुद्‌गल जीव को नहीं भोगता, जीव ही पुद्‌गल को भोगता है । रोटी खाने वाले को नहीं खाती, बल्कि खाने वाला ही रोटी को खाता है ।

जीव जब पुद्‌गल को ग्रहण करता है तो पुद्‌गल अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत होकर अशुद्ध बन जाता है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि लड्डू, पेड़ा, रसगुल्ला आदि उत्तम मिष्टान भी मनुष्य के शरीर में जाकर अशुद्ध बन जाते हैं । इसी प्रकार जीव भी पुद्‌गल के संसर्ग के कारण ही अशुद्ध बन रहा है।

दूध में पानी मिला दिया जाता है तो दोनों ही असली स्वरूप में नही रहते। दूध भी खराब हो जाता है और पानी भी विकृत हो जाता है । इसी तरह जीव के संसर्ग से पुद्‌गल और पुद्‌गल के सम्पर्क से जीव में अशुद्धता आती है। एक कवि ने सीधे-सादे शब्दों मे क्या अच्छा कहा है—

पुद्‌गल दे दे धोखा तू ने,
मुझको खूब रुलाया रे ।
षट् द्रव्यन में तू ही मुखिया,
राम कहाया रे ।
तुम्हरी संगति करी जीव ने,
बहु दुःख पाया रे ।। पुद्‌गल० ।।

जिसने अपने शुद्ध स्वरूप की झांकी देख ली है और जो यह बात भलीभांति समझ गया है कि पुद्‌गल के ही संसर्ग से मेरी अधोगति हुई है, वह पुद्‌गल को उपालम्भ देता हुआ कहता है—अरे पुद्‌गल ! तूने मुझे बहुत धोखा दिया है। तू बडा छलिया है। तूने

मेरे सामने अनेक प्रलोभन रक्खे और उन प्रलोभनों के आकर्षण ने मुझे कही का न रक्खा ! उनकी वदौलत ही आज मैं इधर से उधर और उधर से इधर भटकता फिरता हूं । मैंने तेरे कारण ही अनेक दुःख सहन किये हैं और अव भी उनका कही ओर-छोर दिखाई नहीं देता ।

यद्यपि पुद्‌गल का प्रहार पुदगल पर ही होता है, पुद्‌गल पुद्‌गल पर ही चोट कर सकता है, मगर उसे भोगता जीव ही है । शस्त्र का प्रहार शरीर पर होता है । शस्त्र पुदगल है और शरीर भी पुदगल है, परन्तु पुदगल को व्यथा नही होती ; व्यथा तो जीव को ही होती है ।

लोहार लोहे को अग्नि मे डालता है और जव वह लाल हो जाता है तो उसे हथौडे से कूटता है । लोहार की बुद्धि लोहे को कूटने की है । अग्नि को कूटने की नही, परन्तु वेचारी अग्नि साथ में कूटी जाती है और कष्ट पाती है ।

अग्नि को हथौड़े की चोट क्यों सहनी पड़ी ? इसलिए कि उसने परपदार्थ–लोहे—के साथ सयोग जोड़ रक्खा है । इसी प्रकार पुद्‌गल-प्रकृति के साथ सयोग स्थापित करने वाले जीव को भी नाना प्रकार की जन्ममरणादि की चोटें सहनी पड़ती हैं । पर संयोग का यह अनिवार्य फल है ।

हथौड़े की पहली ही चोट में जो स्फुलिंग—तिनखा—चिनगारी निकल कर अलग हो जाती है, उसे चोटें नहीं सहनी पड़ती । मगर जो अग्नि लोहे को नही छोड़ती वह पिटती है । लोहे को त्याग कर पृथक् हुए स्फुलिंग को कोई नहीं कूट सकता ।

तो यह शरीर लोहपिण्ड के समान है और इसमें रहा हुआ चेतन अग्नि है । जव दोनों का सयोग होता है तो कर्म रूपी हथौड़े पड़ते हैं और उनसे चेतन को अनिर्वचनीय व्यथा होती है ।

जो जीव शरीर से पृथक् हो जाते हैं, अर्थात् पुद्‌गल के संसर्ग से मुक्त हो जाते हैं, उनपर कर्म के हथौड़े पड़ने का अवसर नहीं आता। उन्हें कोई भी चोट नहीं पहुचा सकता। मगर जबतक जीव पुद्‌गल के सम्पर्क से पृथक् न होगा, चोटों से नहीं बच सकता। किन्तु ससारी जीव तो चोटें खाते-खाते ढीठ बन गया है।

एक बात याद आ गई। किसी जगह एक सराय सभी मुसाफिरों के लिए खुली थी। उसी में एक ढावा—भोजनालय था। कोई पैसे देकर खाते थे और कोई आटा-दाल आदि समान देकर अपनी रसोई अलग बनवा लेते थे। उस सराय मे एक ढीठ-बेशर्म व्यक्ति रहता था। जब कोई पथिक भोजन करने बैठता था तो वह भी बिना बुलाये आकर जीमने बैठ जाता था। मुफ्त का माल खाने की उसकी आदत थी।

एक बार एक काबुली पठान उस सराय में आया। उसने रसोई बनाने के लिए एक आदमी के योग्य सामान दिया। ढाबे वाले ने कहा—दो आदमियों का सामान दे दो, क्योंकि एक आदमी यहा रहता है जो ढीठ है और बिना ही आमंत्रण दिये खाने को जम जाता है।

पठान बोला—उसे कोई उस्ताद नही मिला होगा! तुम उसकी बात छोड़ो। मैं देख लूंगा।

एक ही आदमी की रसोई बनी और पठान जीमने बैठा कि वह मुफ्तखोर आ धमका। वह पठान की बात सुन चुका था, अतएव मन ही मन सोच रहा था—आज कठिन परीक्षा है! एक कठोर काबुली के साथ मुकाबिला है। परीक्षा में पास होना है। आज चूक गया तो सदा के लिए टिकिट कट जाएगा!

खैर, वह ढीठ काबुली के साथ ही जीमने बैठ गया। काबुली ने मना किया पर वह कब मानने वाला था ? पठान ने उसे पकड़ा और सिर में जूते जमा दिये। फिर भी वह बेशर्म एक हाथ से खाता जाता और दूसरे हाथ से बचाव करता जाता था ! उसके सिर में खून आने लगता है पर खाना नही छोड़ता ! लोग उसे समझाते हैं कि—अरे मान जा, यह पठान है, मार डालेगा। पर ढीठ कहता है—पठान मुझे खाने के लिये कहा मना कर रहा है। यह तो कहता है कि मैं तुझे जूते मार-मार कर खिलाऊंगा !

सज्जनो ! इस धृष्टता की भी कोई सीमा है। इसी प्रकार ससार के जीव दुःखो को सहन कर-करके ढीठ बन गये हैं। कितना काल व्यतीत हो गया है कि विविध प्रकार की वेदनाएँ सहन करते-करते ! व्यापार के नुकसान का चोट, पुत्र मरण की चोट, जामाता के आकस्मिक वियोग की चोट, कहां तक कहें ? अनन्त-अनन्त चोटें सहन करके भी यह जीव संसार को नही छोड़ रहा है। यही नही, संसार में अधिकाधिकलिप्त एव आसक्त होता जाता है। मानों, अब तक जो कुछ सहन किया है वह किसी गिनती मे ही नही है ! अरे भाई, कल्याण का अवसर मिला है। न मालूम कितने कष्ट झेलने के बाद, कैसी कैसी मुसीबते उठाने के पश्चात्, यह स्वर्ण-अवसर हाथ आता है। इस अवसर को तू यो ही गवा रहा है ! यह अवसर सदा के लिए नही है। एक बार हाथ से निकल जाने के बाद फिर कब मिलेगा, यह नही कहा जा सकता। अतएव सोच, समझ और जो कुछ भी सहन कर चुका है, उसे पर्याप्त समझ कर ऐसा उपाय कर कि जिससे तेरे कष्टो का अन्त आ जाय।

जो चिनगारी लोहे को छोड़ देती है, वह पिटने से बच जाती है। इसी प्रकार जो संसार का त्याग कर देते हैं, वे सांसारिक दुःखों से बच जाते हैं।

कहावत है—चने के साथ ढोरा भी पिस जाता है। पीसने वाले की भावना चने को पीसने की होती है मगर संसर्ग दोष के कारण चने में रहे हुए जीव को भो पिसना पड़ता है। इसी प्रकार पुद्गल के संसर्ग से जीव दुःख पाता है।

सयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।

अर्थात्—अनन्त आनन्दमय आत्मा को दुःखो की यह परम्परा क्यो प्राप्त होती है ? इसका एक मात्र उत्तर है—सयोग के कारण !

पुद्गलरूप कर्मों के संयोग से ही जीव की दुर्गति होती है। कर्मों का ही यह प्रभाव है कि जीव कभी पृथ्वीकाय, कभी जलकाय, कभी तेजस्काय और कभी त्रसकाय आदि-आदि अनेक रूपो को धारण करता है और गर्भ के तथा जन्म-मरण आदि के दुःख भोगता है।

जल छः माह तक गर्भ के रूप में रहता है, यह वतलाया जा चुका है। इससे सिद्ध होता है कि जल भी जीव है। यद्यपि अनेक पुद्गल मिलकर पानी का रूप धारण करते हैं, मगर वह पानी के जीवो का शरीर है। उस शरीर को आश्रय बनाकर रहने वाले जीव अलग हैं, जिनकी गणना स्थावरकाय में की गई है।

जैसे पौदीने के सत, अजवायन के सत और कपूर के मेल से पानी बन जाता है, जिसे लोग 'अमृत धारा' कहते हैं, इसी प्रकार पानी भी विविध प्रकार के पुद्गलों और जीवों के संयोग से बना है। अन्य मती भी कहते हैं—

जले विष्णुः स्थले विष्णु विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालमालाकुले विष्णुः, सर्वं विष्णुमयं जगत्॥

वे कहते हैं—जल मे विष्णु है, थल में विष्णु है, पर्वत के शिखर पर विष्णु है, आग में विष्णु है और सारा जगत् विष्णुमय है।

जैन शास्त्र में भी जीव को 'विष्णु' कहा गया है। जो भी हो, हम तो जल को केवल एकेन्द्रिय जीव ही मानते हैं परन्तु अन्यमतावलम्बी तो उसे देवतास्वरूप समझते हैं।

पानी सजीवता सिद्ध करने के लिये एक तर्क और भो उपस्थित किया जा सकता है। अगर पानी सजीव न होकर निर्जीव होता तो खेती की उपज नही हो सकती थी। निर्जीव—गर्म—पानो से खेतो नही हो सकती। जैसे मृत माता से पुत्र का जन्म नही हो सकता, उसी प्रकार निर्जीव जल से वनस्पति का जन्म नहीं हो सकता।

पानी को भी पवन की आवश्यकता है। पवन के प्रवेश के अभाव में पानी का जीवन भी खराब हो जाता है। बोतल मे भरा हुआ गंगाजल भी थोड़े समय में खराब हो जाता है, क्योंकि उसे हवा नहीं मिलती।

इन उदाहरणों और तर्कों से भली-भांति सिद्ध है कि पानी सजीव है और जब वह सजीव है तो उसकी हिंसा से भी यथाशक्ति बचना चाहिए। बहुत लोग पानी का दुरुपयोग करते हैं। उसे निरर्थक नष्ट करते हैं। घण्टों नल के नीचे बैठे रहते हैं या घड़ों पानी शरीर पर उडेलते हैं। कई लोग १०८ बार कूल्ला करते हैं और समझते हैं कि ऐसा करने से अपावन मुख पावन हो जाता है।

कैसा अज्ञान और कैसी नादानी! कोयले को अगर हजार बार धोओ तो भी उसका कालापन नही मिट सकता। इसी प्रकार जो वस्तु स्वरूप से ही अपवित्र है, वह पवित्र कैसे हो सकती है? अगर १०८ बार पानी से कुल्ला करके १०९ वां कुल्ला किसी के ऊपर थूक दो तो क्या होगा? वह ऐतराज नही करेगा? उसे समझाया जाय कि मेरा मुख १०८ कुल्ला करने से पवित्र हो गया है तो उसे

सन्तोष हो जायेगा ? हर्गिज नहीं। असल में मुख अशुद्ध है तो वह अशुद्ध ही रहेगा। उसकी शुद्धि नहीं हो सकती।

मैं यह नही कहता कि आप कुल्ला करने का त्याग कर दे, परन्तु वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप में समझना चाहिये। तथ्य को तथ्य रूप मानना चाहिए। व्यवहार साधना दूसरी बात है। सर्वत्र विवेक की आवश्यकता है।

कई लोग मैली कुचैली, गदी और सड़ी मुहपत्ती बाधते हैं, यह भी ठीक नही है। मुहपत्ती भगवान् की चपरास है। वह ऐसी नही होनी चाहिये जिसे देख कर दूसरों को घृणा उत्पन्न हो। शास्त्र में द्रव्य-शौच और भावशौच दोनो बतलाये गये हैं। मगर विवेक की आवश्यकता है।

तो अभिप्राय यह है कि आप व्यवहार की रक्षा भले ही करे मगर निश्चय को न भूल जाये। दोनों का समन्वय करके चलने से ही सन्मार्ग की रक्षा होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव पानी के जीवो पर भी दया करता है। वह जानता है कि हमारी तरह उन्हे भी सुख प्रिय और दु.ख अप्रिय है। अतएव उन्हें कष्ट नही पहुचाना चाहिए। यद्यपि व्यवहार साधने के लिये वह जल का प्रयोग करता है तथापि उसके अन्त करण मे उन जीवो के प्रति करुणा का भाव विद्यमान रहता है। यही कारण है कि वह जल का निरर्थक उपयोग नही करता। वह मानता है कि वह जल से बाह्य स्वच्छता होती है, पर आन्तरिक शुद्धि नही हो सकती।

इस प्रकार वस्तुस्वरूप को समझ कर जो जलादि एकेन्द्रिय जीवों की भी हिंसा त्याग देता है, वह धन्य है। जिसमें इतनी शक्ति नहीं आई है और जो उनकी निरर्थक हिंसा का ही त्याग करते हैं, वे भी प्रशंसनीय हैं। ऐसे विवेकशील प्राणी संसार-समुद्र से पार होकर अक्षय आनन्द प्राप्त करते हैं। वे निरंजन, निराकार, निर्विकार आत्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं।

राजकोट,
१०-८-५४

———

: १० :

रम्य जीवन

वीरः सवसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा सश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ।।

× ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ।।

उपस्थित सज्जनो तथा बाइयो !

आज का दिन अतिशय महत्त्वपूर्ण है। सूर्य का उदय तो नित्य होता है परन्तु आज लोकोक्ति के अनुसार सोने का सूर्य उदय हुआ है अर्थात् जो शान्ति बाई बाल ब्रह्मचारिणी ने आज भगवति दीक्षा धारण की यह एक अलौकिक सूर्य उदय हुआ है। आजके सूर्योदय के साथ एक प्राणि की आत्मा का भी उदय हुआ है। सूर्य तो उदित होकर और मध्यान्ह मे अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होकर संध्या के समय पुनः अस्त हो जाता है, परन्तु आत्मा रूपी सूर्य का उदय जब एक बार पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है तो फिर कभी अस्त नही होता।

सूर्य तो प्रकृति के नियमानुसार नियत समय पर उदित होता ही है, परन्तु आत्मा के उदय के लिये कोई नियत समय नही है। प्रकृति का ऐसा कोई नियम नही है, जिसके अनुसार आत्मोदय हो ही जाय।

रात्रि को भेद कर सूर्य का उदय होता है। सूर्य तेज का पिंड है, प्रकाशशील है, अतएव वह अंधकार का भेदन कर देता है। मगर जिस अन्धकार का वह भेदन करता है, वह द्रव्य-पौदगलिक अन्धकार है। सूर्य में भाव-अन्धकार अर्थात् अज्ञान का विनाश करने का सामर्थ्य नही है। भाव-अन्धकार आत्मा का वैभाविक गुण है, अतएव वह स्थूल पौद्गलिक प्रकाश के द्वारा नही भेदा जा सकता। उसका भेदन करने के लिये आत्मिक गुण की ही आवश्यकता है। जब सम्यग्ज्ञान का प्रकाश आत्मा रूपी सूर्य में उद्भासित हो उठता है, तभी उस भावान्धकार का भेदन होता है। कहा है—

तमो धुनीते कुरुते प्रकाशं,
शमं विधत्ते विनिहन्ति कोपम्।
तनोति धर्मं विधुनोति पाप,
ज्ञान न किं किं कुरुते नराणाम्?॥

ज्ञान के प्रभाव से मनुष्यों को क्या-क्या सद्गुण नही प्राप्त होते! वह आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करता है और आत्मा को अलौकिक आलोक से आलोकित कर देता है। सम्यग्ज्ञान से जीव क्रोधादि कषायो पर विजय प्राप्त करके प्रशमभाव को प्राप्त करता है। वह पाप का विनाशक है और धर्म का विस्तारक है।

सूर्य और ज्ञान की तुलना करते हुए एक सन्त कहते हैं—

क्षेत्रे प्रकाशं नियते करोति,
रविर्दिनेऽस्त पुनरेति रात्रौ।
ज्ञानं त्रिलोके सकले प्रकाश,
करोति नाच्छादनमस्ति किञ्चित् ॥

सूर्य और सम्यग्ज्ञान में बहुत बड़ा अन्तर है। सूर्य नियत क्षेत्र में ही प्रकाश करता है और वह भी सिर्फ दिन मे। रात्रि के समय वह विलीन हो जाता है और सर्वत्र अधकार ही अधकार छा जाता है। मगर जब सम्यग्ज्ञान का परिपूर्ण विकास होता है तो सम्पूर्ण तीनों लोको मे उसका आलोक अव्याहत रूप से प्रसृत हो जाता है। उस समय उसे आच्छादित करने वाला कोई भी कारण नही रह जाता। उसकी एक कड़ी विशेषता यह भी है कि एक बार आलोकित होने के पश्चात् वह कभी अस्त ही नही होता है।

आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश ऐसा अद्भुत है। परन्तु प्रश्न यह है कि आत्मसूर्य का उदय कब और कैसे होता है? जैसे सूर्य पूर्व दिशा से उदित होना है उसी प्रकार आत्मसूर्य का उदय चतुर्थ गुणस्थान से होता है। चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि का है। चिरकालीन या अनादिकालीन मिथ्यात्वभाव का अन्त होने पर यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति होते ही आत्मा पर पड़ा हुआ सघन पर्दा हट जाता है और आत्मा की अनूठी झाँकी दृष्टिगोचर होने लगती है।

यद्यपि दूसरा सास्वादन गुणस्थान भी समकित रूप है परन्तु वह अध.पतनकालीन है। सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने वाला ही इस गुणस्थान का स्पर्श करता है और इस के बाद मिथ्यात्व में जा पहुंचता है।

चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा, परमात्मा, देव, गुरु, धर्म आदि का वास्तविक बोध होता है, क्योकि वही सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि प्राप्त होते ही मिथ्यात्वतिमिर का नाश हो जाता है।

सूर्य तो प्रकृति के नियमानुसार नियत समय पर उदित होता ही है, परन्तु आत्मा के उदय के लिये कोई नियत समय नही है। प्रकृति का ऐसा कोई नियम नही है, जिसके अनुसार आत्मोदय हो ही जाय।

रात्रि को भेद कर सूर्य का उदय होता है। सूर्य तेज का पिंड है, प्रकाशशील है, अतएव वह अंधकार का भेदन कर देता है। मगर जिस अन्धकार का वह भेदन करता है, वह द्रव्य-पौदगलिक अन्धकार है। सूर्य में भाव-अन्धकार अर्थात् अज्ञान का विनाश करने का सामर्थ्य नही है। भाव-अन्धकार आत्मा का वैभाविक गुण है, अतएव वह स्थूल पौद्गलिक प्रकाश के द्वारा नही भेदा जा सकता। उसका भेदन करने के लिये आत्मिक गुण की ही आवश्यकता है। जब सम्यग्ज्ञान का प्रकाश आत्मा रूपी सूर्य में उद्भासित हो उठता है, तभी उस भावान्धकार का भेदन होता है। कहा है—

तमो धुनीते कुरुते प्रकाशं,
शम विधत्ते विनिहन्ति कोपम्।
तनोति धर्मं विधुनोति पाप,
ज्ञान न किं किं कुरुते नराणाम् ?॥

ज्ञान के प्रभाव से मनुष्यों को क्या-क्या सद्गुण नही प्राप्त होते ! वह आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करता है और आत्मा को अलौकिक आलोक से आलोकित कर देता है। सम्यग्ज्ञान से जीव क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करके प्रशमभाव को प्राप्त करता है। वह पाप का विनाशक है और धर्म का विस्तारक है।

सूर्य और ज्ञान की तुलना करते हुए एक सन्त कहते हैं—

क्षेत्रे प्रकाशं नियते करोति,
रविर्दिनेऽस्तं पुनरेति रात्रौ।
ज्ञानं त्रिलोके सकले प्रकाश,
करोति नाच्छादनमस्ति किञ्चित् ॥

सूर्य और सम्यग्ज्ञान में बहुत बड़ा अन्तर है। सूर्य नियत क्षेत्र में ही प्रकाश करता है और वह भी सिर्फ दिन मे। रात्रि के समय वह विलीन हो जाता है और सर्वत्र अधकार ही अधकार छा जाता है। मगर जब सम्यग्ज्ञान का परिपूर्ण विकास होता है तो सम्पूर्ण तीनों लोको मे उसका आलोक अव्याहत रूप से प्रसृत हो जाता है। उस समय उसे आच्छादित करने वाला कोई भी कारण नही रह जाता। उसकी एक कड़ी विशेषता यह भी है कि एक बार आलोकित होने के पश्चात् वह कभी अस्त ही नही होता है।

आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश ऐसा अद्भुत है। परन्तु प्रश्न यह है कि आत्मसूर्य का उदय कब और कैसे होता है? जैसे सूर्य पूर्व दिशा से उदित होना है उसी प्रकार आत्मसूर्य का उदय चतुर्थ गुणस्थान से होता है। चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि का है। चिरकालीन या अनादिकालीन मिथ्यात्वभाव का अन्त होने पर यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति होते ही आत्मा पर पड़ा हुआ सघन पर्दा हट जाता है और आत्मा की अनूठी झाँकी दृष्टिगोचर होने लगती है।

यद्यपि दूसरा सास्वादन गुणस्थान भी समकित रूप है परन्तु वह अध.पतनकालीन है। सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने वाला ही इस गुणस्थान का स्पर्श करता है और इस के बाद मिथ्यात्व में जा पहुंचता है।

चतुर्थ गुणस्थान मे आत्मा, परमात्मा, देव, गुरु, धर्म आदि का वास्तविक बोध होता है, क्योंकि वही सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि प्राप्त होते ही मिथ्यात्वतिमिर का नाश हो जाता है।

सूर्य तो प्रकृति के नियमानुसार नियत समय पर उदित होता ही है, परन्तु आत्मा के उदय के लिये कोई नियत समय नही है। प्रकृति का ऐसा कोई नियम नही है, जिसके अनुसार आत्मोदय हो ही जाय।

रात्रि को भेद कर सूर्य का उदय होता है। सूर्य तेज का पिंड है, प्रकाशशील है, अतएव वह अंधकार का भेदन कर देता है। मगर जिस अन्धकार का वह भेदन करता है, वह द्रव्य-पौदगलिक अन्धकार है। सूर्य में भाव-अन्धकार अर्थात् अज्ञान का विनाश करने का सामर्थ्य नही है। भाव-अन्धकार आत्मा का वैभाविक गुण है, अतएव वह स्थूल पौद्गलिक प्रकाश के द्वारा नही भेदा जा सकता। उसका भेदन करने के लिये आत्मिक गुण की ही आवश्यकता है। जब सम्यग्ज्ञान का प्रकाश आत्मा रूपी सूर्य में उद्भासित हो उठता है, तभी उस भावान्धकार का भेदन होता है। कहा है--

तमो धुनीते कुरुते प्रकाशं,
शमं विधत्ते विनिहन्ति कोपम्।
तनोति धर्मं विधुनोति पाप,
ज्ञान न किं किं कुरुते नराणाम् ?॥

ज्ञान के प्रभाव से मनुष्यों को क्या-क्या सद्गुण नही प्राप्त होते ! वह आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करता है और आत्मा को अलौकिक आलोक से आलोकित कर देता है। सम्यग्ज्ञान से जीव क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करके प्रशमभाव को प्राप्त करता है। वह पाप का विनाशक है और धर्म का विस्तारक है।

सूर्य और ज्ञान की तुलना करते हुए एक सन्त कहते हैं--

क्षेत्रे प्रकाशं नियते करोति,
रविर्दिनेऽस्तं पुनरेति रात्रौ ।
ज्ञानं त्रिलोके सकले प्रकाशं,
करोति नाच्छादनमस्ति किञ्चित् ॥

सूर्य और सम्यग्ज्ञान में बहुत बड़ा अन्तर है। सूर्य नियत क्षेत्र में ही प्रकाश करता है और वह भी सिर्फ दिन मे। रात्रि के समय वह विलीन हो जाता है और सर्वत्र अधकार ही अधकार छा जाता है। मगर जब सम्यग्ज्ञान का परिपूर्ण विकास होता है तो सम्पूर्ण तीनों लोको मे उसका आलोक अव्याहत रूप से प्रसृत हो जाता है। उस समय उसे आच्छादित करने वाला कोई भी कारण नही रह जाता। उसकी एक कड़ी विशेषता यह भी है कि एक बार आलोकित होने के पश्चात् वह कभी अस्त ही नही होता है।

आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश ऐसा अद्भुत है। परन्तु प्रश्न यह है कि आत्मसूर्य का उदय कब और कैसे होता है? जैसे सूर्य पूर्व दिशा से उदित होना है उसी प्रकार आत्मसूर्य का उदय चतुर्थ गुणस्थान से होता है। चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि का है। चिरकालीन या अनादिकालीन मिथ्यात्वभाव का अन्त होने पर यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति होते ही आत्मा पर पड़ा हुआ सघन पर्दा हट जाता है और आत्मा की अनूठी झाँकी दृष्टिगोचर होने लगती है।

यद्यपि दूसरा सास्वादन गुणस्थान भी समकित रूप है परन्तु वह अधःपतनकालीन है। सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने वाला ही इस गुणस्थान का स्पर्श करता है और इस के बाद मिथ्यात्व में जा पहुंचता है।

चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा, परमात्मा, देव, गुरु, धर्म आदि का वास्तविक बोध होता है, क्योकि वही सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि प्राप्त होते ही मिथ्यात्वतिमिर का नाश हो जाता है।

सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व ही अधकार का नाश होना प्रारम्भ हो जाता है। उदय होने पर तो प्रत्येक पदार्थ स्पष्ट दिखलाई देने लगता है। वह समय बड़ा सुहावना होता है। अकस्मात् उल्लास का भाव जागृत होता है। मनुष्यो की तो बात छोड़िए, पक्षी भी सूर्योदय की खुशी मनाते हैं और पक्षी भी पचेन्द्रिय प्राणी है, उसे भी जाने दीजिए और सूर्यविकासी कमल को ही लीजिए जो सब्जीरूप एकेन्द्रियजीव है। सूर्योदय होते ही वह भी खिल उठता है। भ्रमर उसके मनोहर सौरभ का उपभोग करने के लिए बिना निमत्रण ही आ पहुचते हैं।

भ्रमर क्यों न आवे, कमल का जीवन विकसित जो हो गया है। आने वाले उसी के पास आते हैं जो जीवन से विकसित हो गया हो। जब तक कमल का जीवन सिकुडा हुआ था तब तक भ्रमर उसके पास नही पहुचते थे; क्योकि सकीर्ण जीवन किसी के लिए आकर्षक नही होता। जब कमल का विकास हुआ तो उसने अपने घर का द्वार खुला कर दिया। भ्रमर आने लगे।

यद्यपि कमल के घर का द्वार सब के लिए समान रूप से खुला है, कही कोई प्रतिबध नही है कि भ्रमर ही आए और दूसरे न आए। फिर भी मक्खी, टिड्डी और पतंग जैसे कीट उसके पास नही जाते। कमल सुगध का मूल्य भ्रमर ही आक सकता है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव का जीवन जब विकसित हो जाता है तो उससे अनेक दूसरे लोग भी लाभ उठाते हैं।

सम्यक्त्व परम और दुर्लभ रत्न हैं। पौद्गलिक रत्न तो चोर के द्वारा चुराये जा सकते हैं और आग में जल भी सकते हैं और आत्मा का तनिक भी उत्कर्ष नहीं होता, मगर सम्यक्त्वरत्न अनूठा है।

उसे चोर चुरा नहीं सकते, आग जला नही सकती, पानी गला नहीं सकता और उससे आत्मा का महान् उत्कर्ष होता है। कहा भी है—

> सम्यक्त्वरत्नान्न परम् हि रत्नं,
> सम्यक्त्व मित्रान्न परं हि मित्रम्।
> सम्यक्त्ववन्धोर्न परो हि बन्धुः,
> सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभ.॥

अर्थात्—सम्यक्त्व रूपी रत्न से बढ़ कर जगत् में दूसरा कोई नही है और सम्यक्त्व रूपी मित्र से बढ़कर कोई मित्र नही है। मित्र का काम सत्परामर्श देना है। अपने मित्र को अकल्याणकर पथ से हटा कर कल्याणकारी पथ मे प्रवृत्त करना है। जो अपने इस कर्त्तव्य को तथा उत्तरदायित्व को सदा सम्मुख रखता है, वह वास्तव में मित्र कहलाने योग्य है। जो मित्र कहला कर भी अपने मित्र को अहित मे प्रवृत्त करता है वह मित्र नही, शत्रु है और ऐसे व्यक्ति से सदैव सावधान रहना चाहिए।

तो सम्यक्त्व सत्य ऐसा ही परम मित्र है। जब वह मनुष्य का सखा बनता है तो उसे हित और अहित का यथार्थ भान करा देता है और अहित से रक्षा करता है।

सम्यक्त्व रूपी बन्धु से वढ कर अन्य कोई वन्धु नही हो सकता सांसारिक रिश्ते से जिसे वन्धु माना जाता है, वह अवसर आने पर सहायक होगा या नही, यह नही कहा जा सकता। कदाचित् सहायक हो भी तो उसकी शक्ति ही क्या है! अधिक से अधिक वह इस लोक में कुछ सहायता कर सकता है, परन्तु सम्यक्त्व रूपी वन्धु तो जन्म-जन्मान्तर मे सहायक होता है। वह वहुत-सी विपदाओं से बचा देता है। सांसारिक वन्धु कभी-कभी स्वार्थ के वशीभूत होकर

सामायिक की भी प्राप्ति हो जाती है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने के लिए अप्रत्याख्यानावरण कषाय को जीतना पड़ता है। अनन्तानुबंधी कषाय का क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम होने पर चतुर्थ गुणस्थान मिलता है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षीण या उपशान्त होने पर देशविरति गुणस्थान। इस गुणस्थान में जीव श्रावक के योग्य चारित्र का अपनी शक्ति के अनुसार आराधन करता है।

जब आत्मा की शक्ति और अधिक बढ़ती है और प्रत्याख्याना-वरण कषाय का भी विनाश हो जाता है। तब सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति होती है। सर्वविरति सामायिक प्राप्त होते ही जीव छठे गुणस्थान में पहुचता है।

षष्ठ गुणस्थान से आगे के समस्त गुणस्थान सर्वविरति सामायिक के ही रूप हैं, परन्तु उनमें सर्वविरति या चारित्र की तरतमता होती है। ज्यों ज्यो मोहकर्म की प्रकृतियां निर्मूल होती जाती हैं, त्यो त्यों आत्मा की विशुद्धि वढती जाती है। और ज्यों ज्यो विशुद्धि वढती जाती है त्यो त्यों गुणस्थानो की श्रेणी भी बढती जाती है अर्थात् आत्मा उत्तरोत्तर उन्नत होता जाता है। गुणस्थान का मतलब एक प्रकार की आत्मा की भूमिकायें हैं—अवस्थाए हैं।

दसवे गुणस्थान मे मोहनीय कर्म का पूरी तरह क्षय या उपशम हो जाता है। क्षय करने वाला जीव दसवे से सीधा बारहवे गुणस्थान में पहुंचता है। उपशम करने वाला ग्यारहवे गुणस्थान में पहुच कर फिर नीचे गिरता है।

इस प्रकार बारह गुणस्थान मोहकर्म के निमित्त से होते हैं और तेरहवां तथा चौदहवां गुणस्थान योग के निमित्त से होते हैं।

आज साध्वीजी ने सर्व विरतिसामायिक अंगीकार की है अगर जीवन और धर्म का कुछ सारभूत निचोड़ है तो वह सामायिक ही है। इसमें सभी व्रतों का समावेश हो जाता है।

समभाव को सामायिक कहते हैं। अपनी आत्मा को पाप से पृथक् करके समभाव में स्थापित करना सामायिक है। पापों से पूरी तरह बचने के लिए समस्त सावद्य योग का प्रत्याख्यान करना पड़ता है और सावधानी के साथ उसका पालन भी करना पडता है। इसमें पाँचो महाव्रतों का तथा रात्रिभोजन-त्याग नामक छठे व्रत का भी समावेश है। अठारह पापस्थानो का त्याग भी इसी के अन्तर्गत हो जाता है।

इस प्रकार चतुर्थ गुणस्थान से सामायिक प्रारम्भ होती है और चौदहवें गुण स्थान मे परिपूर्ण होती है। चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय तथा दर्शनमोहनीय कर्म का उदय न रहने से आत्मा मे एक प्रकार का समभाव जागृत हो जाता है। वहां व्रतरूप सामायिक न होने पर भी मिथ्यात्वनिरोधरूप सामायिक है। अनादिकाल से जीव मिथ्यात्व के अंधकार मे भटक रहा था। सम्यक्त्वसामायिक प्राप्त होने पर उस अंधकार का अन्त आ जाता है और प्रकाश की ज्योतिर्मयी रश्मिया उसके सामने चमकने लगती हैं।

चौथी कक्षा का अभ्यास पूरा करके विद्यार्थी आगे बढ़ता है। अगर वह साधारण योग्यता वाला है तो पांचवीं कक्षा में जाता है। और यदि असाधारण योग्यता वाला होता है तो 'डबल प्रमोशन' पाकर सीधा छठी कक्षा में प्रविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार मुमुक्ष जीव चौथे से पांचवे में अथवा सीधा छठे गुणस्थान में दाखिल हो जाता है।

चतुर्थ गुणस्थान से ही मोक्षमार्ग की साधना प्रारम्भ होती है। वहां जीव को यथार्थ बोध हो जाता है परन्तु उसके अनुसार आचरण वह नही कर पाता। सम्यग्दर्शन होने से उसे सत्य वस्तुस्वरूप का आभास मिलने लगता है। उसे सम्यक्त्व की पूंजी प्राप्त हो जाती है।

पूंजी जिसके पास मौजूद है वह जब चाहे तभी दुकान चालू कर सकता है। चौथे गुणस्थान वाला जीव सम्यग्दर्शन की पूंजी से व्रत रूप माल खरीदता है। वह माल पचम आदि गुणस्थानों में मिलता है। इस माल को खरीदने वाला ही चारित्रसामायिकवान् कहलाता है।

सामायिक अखड भाव है। उसके एक, दो, तीन टुकडे नही हो सकते। आत्मा के टुकड़े हो तो सामायिक के टुकड़े हों।

भगवतीसूत्र मे कहा गया है कि आत्मा ही सामायिक है। ओघा, मुखपत्ती, माला, आसन आदि उपकरण मात्र हैं—वाह्य साधन मात्र हैं। आज-कल के कितनेक नवीनपंथी लोग उपकरणो का निषेध करते है, परन्तु यह उचित नही है, क्योंकि उचित उपकरणो के अभाव में कोई भी क्रिया समीचीन रूप से सम्पन्न नही होती। दुकानदार के पास तराजू-बांट आदि उपयुक्त साधन होने पर ही वह ठीक तरह से दुकान चला सकता है। अगर वह साधन न रक्खेगा तो हानि उठाएगा। उसकी दुकान नही चलेगी अतएव सामायिक के उपकरणो का होना आवश्यक है। उपकरण भी द्रव्यसामायिक मे गिने गये हैं।

जिस क्षेत्र में सामायिक की जाती है वह क्षेत्र सामायिक कहलाता है। सामायिक के लिए स्थान का चुनाव करना भी एक महत्त्वपूर्ण बात है। सामायिक का स्थान ऐसा होना चाहिए जहां

गंदगी न हो, घृणा-जनक पदार्थ न विखरे हों, जहां चित्त में विक्षेप उत्पन्न करने वाला कोलाहल न हो या दूसरा कोई ऐसा कारण न हो। एकान्त, शान्त और सात्विक भाव उत्पन्न करने वाला स्थान होने से चित्त में समाधि रहती है।

सामायिक का काल भी शुद्ध होना चाहिए। यद्यपि काल निराकार पदार्थ है और शुद्धता-अशुद्धता ही क्या है! फिर भी उपयुक्त समय अवसर का विचार रखना आवश्यक है। घर में कोई बीमार है और दूसरा कोई सेवा करने वाला नही है, उस समय मुंह बाध सामायिक ले कर बैठ जाना कालशुद्धि नही है। ऐसा करने से लोक में निन्दा होती है और व्यावहारिक कर्त्तव्य का भंग होता है। जब तक मनुष्य गृहस्थी में रहता है, उसे गार्हस्थिक कर्त्तव्यो को भा निभाना ही पड़ता है। जब तक वह परिवार के दूसरे लोगों की सेवाओं से लाभ उठाता है तब तक उसे भी उनकी समुचित सेवा करनी चाहिए। धर्म स्वार्थीपन की शिक्षा नही देता। वह यह नही कहता कि तुम दूसरों से लाभ उठाओ पर अवसर आने पर दूसरों की सेवा न करो ऐसा करना स्वार्थीपन है, कृतघ्नता है। श्रावक कृतघ्न नहीं हो सकता।

हा, जिसने गृहस्थी का परित्याग कर दिया है और जो परिवार की सेवाओं को अपने लिए, पारिवारिक जन होने के नाते स्वीकार नहीं करता उसकी बात दूसरी है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि सामायिक एक उत्तम और प्रशस्त क्रिया है, तथापि उसके लिए भी उचित अवसर का विवेक रखना आवश्यक है। विवेक के अभाव मे प्रशस्त क्रिया भी अप्रशस्त बन जाती है।

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और काल से शुद्ध सामायिक होनी चाहिए, परन्तु भावशुद्धि सामायिक का प्राण है, उसका स्वरूप है। भावशुद्धि के अभाव में की गई सामायिक क्रिया नाटक के मूल्य की रह जाती है।

सामायिक हो अथवा दूसरी कोई भी धर्मक्रिया हो, सब की वास्तविकता का आधार भावशुद्धि है। भावशून्य क्रिया यथेष्ट फल प्रदान नहीं कर सकती।

द्रव्य, क्षेत्र और काल की शुद्धि होने पर ही भावशुद्धि हो सकती है। इन तीनों की शुद्धि के बिना भावशुद्धि हुई नही, होगी भी नहीं।

हा,तो चौथे गुणस्थान में दर्शन सामायिक और श्रुतसामायिक की प्राप्ति होने के पश्चात् पांचवे गुणस्थान मे देशविरतिसामायिक प्राप्त होती है। देशविरति का अर्थ है—श्रावक के व्रत। श्रावक के बारह व्रत हैं। जो बारहो व्रतो को अगीकार करता है वह तो श्रावक है ही, किसी एक व्रत को ग्रहण करने वाला भी श्रावक कहलाता है गृहस्थ मे रह कर जो गृहस्थ को लागू होने वाले धर्म नियमो का पालन करता है उसे श्रावक कहते हैं।

साधु के पांच महाव्रत मूलव्रत हैं और नवकासी आदि दस प्रकार के पच्चक्खाण उत्तर व्रत हैं। श्रावक के भी पांच अणुव्रत मूलव्रत हैं और शेष सात उत्तरव्रत है जिन्हें गुणव्रत और शिक्षाव्रत कहते हैं।

कुछ लोगों का कथन है कि पहले हिंसा, झूठ, चोरी आदि पांच पापो का त्याग किये बिना आगे के व्रत हो ही नहीं सकते। इस गलत धारणा के कारण वे सामायिक पोषध आदि छोड़ बैठते हैं। किन्तु भगवतीसूत्र में सर्वमूलव्रतियो, सर्वउत्तरव्रत्तियों, देशमूलव्रतियों और

देशउत्तरव्रतियों का अल्पबहुत्व बतलाया है। उसमें देशमूलव्रतियों की अपेक्षा देशउत्तरव्रती असंख्यातगुणा अधिक बतलाये हैं।

इस अल्पबहुत्व से स्पष्ट सिद्ध है कि बहुत-से देशमूल उत्तरव्रती ऐसे भी हैं जो मूलव्रतधारक नहीं है अर्थात् मूलव्रतों के अभाव में भी उनके उत्तरव्रत होते हैं। जो देशमूलव्रती हैं, वही देशउत्तरव्रती हो सकते हैं, ऐसा नियम मान लिया जाय तो मूलव्रतियों की अपेक्षा उत्तरव्रती असंख्यातगुणा किस प्रकार हो सकते हैं ? उस दशा में दोनों की संख्या या तो बराबर होनी चाहिए या मूलव्रतियों की संख्या ही अधिक होनी चाहिए ; क्योंकि उक्त नियम के अनुसार सब उत्तरव्रती मूलव्रती तो होगे ही, पर कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जिन्होंने मूलव्रत तो धारण किये हों। कदाचित् यह भी मान लिया जाय कि सब मूलव्रत धारण करने वाले उत्तरव्रत धारण करते ही हैं, तब भी उत्तरव्रतियो की संख्या अधिक तो हो ही नहीं सकती। अतएव भगवतीसूत्र के प्रमाण से सिद्ध है कि अणुव्रत रूप मूल व्रतों के अभाव में भी उत्तरगुण हो सकते हैं।

वास्तव में बहुत से श्रावक ऐसे भी होते हैं जो पाँच अणुव्रतों को धारण नहीं करते, फिर भी सामायिक-प्रतिक्रमण, पौषध आदि धर्म-क्रिया करते हैं तथा मद्य-मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करते हैं। उनकी अपेक्षा से ही भगवतीसूत्र में उत्तरव्रतियों की संख्या मूल-व्रतियों की अपेक्षा अधिक बतलाई है।

मूलव्रतों के बिना उत्तर व्रत हो ही नहीं सकते, इस प्रकार की धारणा शास्त्रविरुद्ध होने के साथ व्यवहार से विरुद्ध है। इससे श्रावकों को लाभ के बदले हानि ही हो सकती है।

व्रतों को धारण करना एक प्रकार से स्वेच्छापूर्वक भार वहन करना है। भार थोड़ा भी उठाया जा सकता है और अधिक भी

बीमारी ठीक होने पर जैसे वैद्य का उपकार माना जाता है, उसी प्रकार प्रायश्चित्तदाता का भी उपकार मानना चाहिए। कभी-कभी चिकित्सक को कष्टकर उपाय भी काम मे लाने पड़ते हैं, कठिन आपरेशन भी करना पडता है, तथापि उसके हृदय में निर्दयता की भावना नही होती, वल्कि करुणा ही होती है और वह बीमार का भला ही सोचता है। यही वात प्रायश्चित्तदाता के विषय में समझनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि डाक्टर या वैद्य का जो स्थान है वही प्रायश्चित्तदाता का स्थान है।

धोबी मैले कुचैले कपड़े को धोकर स्वच्छ कर देता है। उसे गालियां नहीं दी जाती, वरन् इनाम दिया जाता है। वह कपड़ों को मुद्गलों से पीटता है, पर ध्यान रखता है कि कपड़ा फट न जाय। प्रायश्चित्तदाता भी यही करता है। साधक की आत्मा में स्खलना के कारण उत्पन्न हुए कालुष्य को धो देना और आत्मा का शुद्ध बना देना उसका काम है। मगर इस कार्य को करता हुआ भी वह विवेक को विस्मरण नही करता। वैद्य या डाक्टर भी जब रोगी को चिकित्सा करता है तो वह उसकी शक्ति को ध्यान मे रखता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्तदाता भी। मगर वैद्यराज कई प्रकार के होते हैं।

पंजाब में जगरावां नामक एक स्थान है। हमारे वर्त्तमान आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज बड़े मिलनसार हैं। वहा उनके पास एक भगत आया। वह वैद्य था। वार्त्तालाप के सिलसिले में आचार्यश्री ने कहा—कुशल वैद्य तो वही है जो रोग को समूल नष्ट कर दे।

तब वह भगत वैद्य शेखी में आकर कहने लगा—एक साहूकार के बेटे का केस मेरे पास आया था। मैंने ऐसी पुड़िया दी कि छोकरा तो मर गया परन्तु रोग समूल नष्ट हो गया !

कितनी अद्भुत कुशलता है ! ऐसे वैद्यों के लिए एक कवि ने कहा है—

वैद्यराज ! नमस्तुभ्यं, यमराजसहोदर !
यमस्तु हरते प्राणान्, वैद्यः प्राणान् धनानि च ॥

अर्थात्—हे वैद्यराज ! तुम्हें नमस्कार है ! हे यमराज के सगे भाई ! मैं तुम्हें हाथ जोडता हू । तुम यमराज से भी एक कदम आगे हो। यमराज सिर्फ प्राणों को हरण करता है, तुम प्राण और धन दोनों का अपहरण करते हो।

बुद्धिमत्ता रोगी का अन्त करने में नही, रोग का अन्त करने में है। प्रायश्चित आत्मशुद्धि के लिये दिया जाता है, बदला लेने के लिये नही।

यह सब बाते बहुत विचारणीय हैं। आज ऐसे प्रायश्चित देने-लेने वाले विरले हैं।

भूलें तो होती रहती हैं। बड़े-बड़े आचार्यो से भी भूल हुई है वह भी ससार से जुदा नहीं हैं। ऐसा कौन छद्मस्थ अल्पज्ञ प्राणी है जो भूलों से सर्वदा बचा रहा हो या बचा रह सकता हो ? सयम का मार्ग कटकाकीर्ण मार्ग है। कितना ही देख-देख कर चलो, कही कोई कांटा लग ही जाता है। मगर उसका समुचित प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। वास्तव में प्रायश्चित्त लिया जाता है, दिया नही जाता। लेने और देने में बड़ा अन्तर है। लेने में आत्मशुद्धि के लिये स्वेच्छा की प्रधानता है और देने मे बलात्कार ध्वनित होता है।

भूल करने वाला प्रायश्चित्तदाता के समक्ष अपनी भूल निवेदन करता है और शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त की मांग करता है। प्रायश्चित्त-दाता शास्त्र के अनुसार प्रायश्चित्त का विधान करता है। यही शास्त्रीय मार्ग है। मगर जब लेने वाला लेना नही चाहता और देने वाला उस पर थोपता है तो गड़बड़ होती है।

शास्त्र का विधान है कि प्रायश्चित्तदाता यदि गलत दण्ड दे तो उसे भी उतने ही दण्ड का भागी होना पडता है जितना उसने दूसरे को दिया है। शास्त्र ने किसी का लिहाज नही रक्खा। उसके सामने सब समान रूप से न्याय के पात्र हैं। अगर शास्त्रानुसार देने वाले दे और लेने वाले लें तो किसी प्रकार का विसवाद ही खड़ा न हो।

प्रायश्चित्त लेने और देने वाले में दस-दस गुण होने चाहिएं। उन गुणों की विद्यमानता में शान्ति के साथ संघ का काम चलता है।

गोली उसी को लगती है जो रणभूमि में जाता है। घर में छिप कर बैठ जाने वाले कायर को क्या गोली लगेगी ? इसी प्रकार जो साधन के पथ पर अवतीर्ण होता है, उसी को दोष लगते हैं। जब दोष लग जाय तो उसे प्रकट कर देने मे किसी प्रकार का सकोच नही होना चाहिए। वैद्य के समक्ष अपनी गुप्त से गुप्त बीमारी भी प्रकट करनी पड़ती है। तभी उसका सही इलाज होता है। जो वैद्य से रोग छिपाता है वह निरोग होने की आशा नही कर सकता। जो साधक अपना दोष छिपाएगा वह निर्दोष साधना नहीं कर सकेगा। कहा भी है—

जह बालो जपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
एव आलोयणारिहे, मोक्खगमणं च कज्जेणं ॥

आलोचना करते समय हृदय मे बच्चा सरीखी सरलता होनी चाहिए।

'तुम्हारे बापा ने मा को क्यों पीटा ?' ऐसा प्रश्न करने पर वह जो कुछ जानता है, सच-सच कह देता है। उसके कथन मे कोई बनावट नही होती। किसी प्रकार का दुराव छिपाव नही होता और न अतिशयोक्ति होती है।

'अमुक वस्तु कहा रक्खी है ?' पूछने पर बालक को यदि मालूम है तो वह झट बता देता है। इससे लाभ या हानि हो, वह तो सच ही कहेगा।

इसी प्रकार अगर बालक ने स्वयं कोई अच्छा कार्य किया है या बुरा कार्य किया है तो वह साफ-साफ कह देता है। इसी प्रकार आलोचना करने वाले को भी हीनोक्ति और अतिशयोक्ति का त्याग करके, निश्छल भाव से यथातथ्य दोष का प्रकाशन कर देना चाहिए।

सयम के मार्ग पर चलना महान् मगलमार्ग पर चलना है। सयम परलोक में सुखदाता है ही, इस लोक में भी उससे अपूव आनन्द की प्राप्ति होती है। संयममय जीवन में परम शान्ति का अनुभव होता है। निराकुलता का सुख वही जान सकते हैं जिन्होंने संयम के रस का आस्वादन किया है। कहा है—

न च राजभयं न च चौरभयं,
न च वृत्तिभयं न वियोगभयं।
इहलोकसुखं परलोकहित,
श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम् ॥

अहा, यह साधुजीवन कितना रमणीय है, कितना आनन्दप्रद है, कितना स्पृहणीय है। इस जीवन को अगीकार करते ही संसार के समस्त भयों का अन्त हो जाता है और आत्मा में निर्भयता का बल

उत्पन्न हो जाता है। गृहस्थों को सदा राजा या राजकीय कानूनो स डरना पड़ता है, धनवान् हों तो चोरों का भय रहता है, निर्धन हों तो आजीविका का भय सताता है। अन्य कोई भय न भी हो तो परकीय पदार्थों पर ममता होने के कारण धन-जन आदि के वियाग का भय तो टलता ही नही है। पर साधु सर्वथा निर्भय है। उसका चारित्र और व्यवहार इतना प्रशस्त है कि राजकीय कानून उसे लागू ही नही होते, अपरिग्रह होने से चोर पास में नही फटकते। भिक्षा पर निर्वाह करने के कारण तथा शरीर के प्रति भी निस्पृह होने के करण जीविका के भय से भी वह मुक्त है। निरवध आहार मिल गया तो ठीक। न मिला तो तपस्या का अनायास लाभ प्राप्त हुआ सोचकर वह समभाव के सुख में निमग्न रहता है। उसने संसार के समस्त पदार्थों का परित्याग कर दिया है, कोई भी व्यक्ति और कोई भी वस्तु ऐसी नही जिसे वह अपनी समझता हो। वह ममभाव को त्याग कर समभाव में स्थित होता है। अतएव उसे कभी वियोग की वेदना भी सहन नही करनी पड़ती। इस प्रकार साधु जीवन इस लोक में भी सुख का कारण है और परलोक में तो स्वर्ग-मोक्ष प्रदान करने वाला होने से सुख का कारण होता ही है। जो इह परलोक में परम सुख का दाता है, उस साधुत्व से अधिक आनन्द देने वाला और क्या हो सकता है!

मानव जीवन की साथकता आत्मा का शाश्वत कल्याण करने में ही है और इसको साधना साधुजीवन में ही हो सकती है। गृहस्थ-जीवन नाना प्रकार की परेशानियो व्याकुलताओ और झंझटों से परिपूर्ण होता है। उसमें एकाग्र भाव से आत्मसाधना का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि बड़े-बड़े सम्राटों एवं

चक्रवर्तियों ने भी गृहस्थीजीवन से उपरत हो कर संयमजीवन को स्वीकार करने में ही सुख समझा ।

अत्यन्त पुण्य का उदय होने पर ही इस जीवन की प्राप्ति होती है। साधुजीवन अगीकार करने का अर्थ है अनादिकाल से विविध प्रकार की वेदनाओं पीड़ाओं और दु:खो से पीड़ित आत्मा को सुख के मार्ग पर ले जाना और अपने अनन्त भविष्य को उज्ज्वल, मगलमय और आनन्दमय बनाना । जिस सुख को आप पर-पदार्थों के निमित्त से प्राप्त करना चाहते हैं, और अन्त में असफल होते हैं, उस सुख को साधु अपने आप में खोजता है और पाता है और मस्त रहता है। वह सुख पर निर्भर नही होता, अतएव उसका कभी अन्त नही आता ।

साधु के पाच महाव्रत मेरु के समान हैं। जो महाभाग्य इन व्रतों को प्राप्त करता है, वह इसो जीवन में महान् उच्चता प्राप्त कर लेता है। प्राचीन काल में, जव धर्मभावना को अधिकता थी, तव राजा, महाराजा, धनी, निर्धन सभी प्रकार के भव्यजीव साधुजीवन अगीकार करने में अपना श्रेय समझते थे, आज के इस गए-गुजरे जमाने में भी ऐसे आत्म-हितैपी मनुष्य हैं जो इस जीवन को अंगीकार करके शान्ति लाभ करते हैं। वे प्रशंसनीय और वन्य हैं जो वीतराग के मार्ग पर चलते हैं।

आज इन साध्वीजी ने भी उसी माग पर पक्का कदम रक्खा है जिस पर इस देश की अनेक महासतियां चली और प्रात:स्मरणीय वनी हैं। इन्होने अपने सिर पर महान् उत्तरदायित्व लिया है। मैं मानता हूं कि इन्होंने उस उत्तरदायित्व को भली-भांति अनुभव कर लिया है। मैं केवल यही कहना चाहता हूं कि इस जीवन को सफल वनाने के लिए इन नव दीक्षित साध्वी जी को सर्वप्रथम अपनी गुरुणीजी की आज्ञा को पालन करने का ध्यान रखना चाहिए। इससे

ENGLISH SECTION